की अनुपम भेंट
कृष्णकृपाश्रीमूर्ति
श्री ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः

कृष्ण-भक्ति
की
अनुपम भेंट

लेखक

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति
श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्तस्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

अनुवादक

निरंजन दास ब्रह्मचारी

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
हरे कृष्ण लैंड, गाँधी ग्राम रोड,
जूहू, बम्बई—४९

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक-ग्रन्थ-रत्न—

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप
श्रीमद्भागवत स्कन्ध १-१० (५०-खण्ड)
श्रीचैतन्य चरितामृत (१७-खण्ड)
श्रीचैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत
भक्तिरसामृतसिन्धु
उपदेशामृत
श्री ईशोपनिषद्
अन्य लोकों की सुगम यात्रा
कृष्णभावना : परमयोग
भगवान् श्रीकृष्ण का लीलामृत (३-खण्ड)
पारमार्थिक प्रश्नोत्तर
वैदिक आलोक में पाश्चात्य दर्शन (२-खण्ड)
देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल का शिक्षामृत
प्रह्लाद महाराज की भागवत-शिक्षा
रसराज श्रीकृष्ण
जीवन का स्रोत चेतन है
योग की पूर्णता
जन्म-मृत्यु से परे
श्रीकृष्ण की ओर
कृष्णभावना : अनुपम भेंट
गीतार गान (बंगाली)
राजविद्या
कृष्णभावना की प्राप्ति
भगवत्-दर्शन पत्रिका (संस्थापक)

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखे :

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

हरे कृष्ण लैण्ड, गांधी ग्राम रोड, जुहू, बम्बई –४०० ०४९
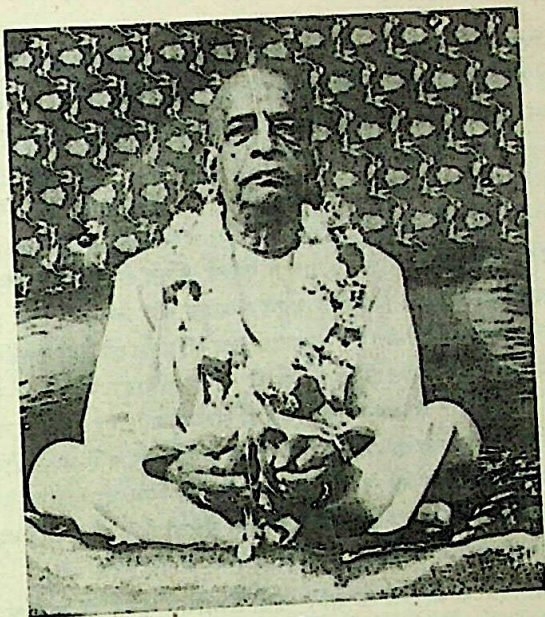
लेखक-परिचय

कृष्णकृपाश्रीमूर्त्ति श्री श्रीमद् ए. सी भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का जन्म १८९६ ई. में भारत के कलकत्ता नगर में हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ता में उनकी प्रथम भेंट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्त्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान्-भक्त, आचार्य एवं चौसठ गौड़ीय मठों के संस्थापक श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होंने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई. में) प्रयाग (इलाहाबाद) में विधिवत् उनके दीक्षा-प्राप्त शिष्य हो गये।

अपनी प्रथम भेंट, १९२२ में ही श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्रील प्रभुपाद से निवेदन किया था कि वें अँग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। आगामी वर्षों में श्रील प्रभुपाद ने श्रीमद्भगवद्गीता पर एक टीका लिखी, गौड़ीय मठ के कार्य में सहयोग दिया तथा १९४४ में बिना किसी की सहायता के एक अँग्रेजी

पाक्षिक पत्रिका आरम्भ की, स्वयं ही उसका सम्पादन, पाण्डुलिपि का टङ्कण (टाइपिंग) और मुद्रण सामग्री को देखा। उन्होंने एक-एक प्रति निःशुल्क बाँटकर भी इसके प्रकाशन को वर्त्तमान रखने के लिए संघर्ष किया। एक बार आरम्भ होकर फिर यह पत्रिका कभी बन्द नहीं हुई; अब यह उनके शिष्यों द्वारा पश्चिमी देशों में भी चलाई जा रही है

श्रील प्रभुपाद के दार्शनिक ज्ञान एवं भक्ति की महत्ता पहचान कर 'गौड़ीय वैष्णव समाज' ने १९४७ में उन्हें 'भक्तिवेदान्त' की उपाधि से सम्मानित किया। १९५० ई. में चौवन वर्ष की अवस्था में श्रील प्रभुपाद ने गृहस्थ जीवन से अवकाश लिया और चार वर्ष बाद वानप्रस्थ ले लिया जिससे वे अपने अध्ययन और लेखन के लिये अधिक समय दे सकें। श्रील प्रभुपाद ने तदनन्तर श्रीवृन्दावन धाम की यात्रा की जहाँ वे बड़ी ही सात्विक परिस्थितियों में मध्यकालीन ऐतिहासिक श्री राधा दामोदर मन्दिर में रहे। वहाँ वे अनेक वर्षों तक गम्भीर अध्ययन एवं लेखन में संलग्न रहे। १९५९ में उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। श्री राधा दामोदर मन्दिर में ही श्रील प्रभुपाद ने अपने जीवन के सबसे श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण ग्रन्थ का आरम्भ किया था। वह ग्रन्थ था अठारह हजार श्लोक संख्या के श्रीमद्भागवत पुराण का अनेक खण्डों में अँग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या। वहीं उन्होंने 'अन्य लोकों की सुगम यात्रा' नामक पुस्तिका भी लिखी थी।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ के तीन खण्ड प्रकाशित करने के बाद श्रील प्रभुपाद १९६५ ई. में अपने गुरुदेव का धर्मानुष्ठान पूरा करने के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका गये। अन्ततः श्रील प्रभुपाद ने भारतवर्ष के श्रेष्ठ दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद, टीकाएँ एवं संक्षिप्त अध्ययन-सार के रूप में साठ से अधिक ग्रन्थ रत्न प्रस्तुत किये।

१९६५ में जब श्रील प्रभुपाद एक मालवाहक जलयान द्वारा प्रथम बार न्यूयॉर्क नगर में आये तो उनके पास एक पैसा भी नहीं था। इसके पश्चात् कठिनाई भरे लगभग एक वर्ष के बाद जुलाई १९६६ में उन्होंने 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ' की स्थापना की। १४ नवम्बर १९७७ को, कृष्ण-बलराम मन्दिर, श्रीवृन्दावन धाम में अप्रकट होने पूर्व तक श्रील प्रभुपाद ने अपने कुशल मार्ग निर्देशन के कारण इस संघ को विश्वभर में सौ से अधिक मन्दिरों के रूप में आश्रमों, विद्यालयों, संस्थाओं और कृषि-क्षेत्रों का वृहद् संगठन बना दिया है।

१९६५ में श्रील प्रभुपाद ने प्रयोग के रूप में वैदिक समाज के आधार पर पश्चिमी वर्जीनिया की पहाड़ियों में एक नव वृन्दावन की स्थापना की। एक हजार एकड़ से भी अधिक के इस समृद्ध नव-वृन्दावन के कृषि क्षेत्र से प्रोत्साहित होकर उनके

शिष्यों ने संयुक्त राज्य अमेरिका अन्य देशों में भी ऐसे अनेक समुदायों की स्थापना की।

१९७२ ई. में श्रील प्रभुपाद ने डल्लास, टेक्सस में गुरुकुल विद्यालय की स्थापना द्वारा पश्चिमी देशों में प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की वैदिक प्रणाली का सूत्रपात किया। तब से, उनके निर्देशन के अनुसार श्रील प्रभुपाद के शिष्यों ने सम्पूर्ण विश्व में दस से अधिक गुरुकुल खोले हैं। भक्तिवेदान्त स्वामी गुरुकुल, श्रीवृन्दावन धाम इनमें सर्वप्रमुख है।

श्रील प्रभुपाद ने श्रीधाम-मायापुर, पश्चिम बंगाल में एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की प्रेरणा दी है। यहीं पर वैदिक साहित्य के अध्ययनार्थ सुनियोजित संस्थान की योजना है, जो अगले दस वर्ष तक पूर्ण हो जायेगा। इसी प्रकार श्रीवृन्दावन धाम में भव्य कृष्ण-बलराम मन्दिर और अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि भवन का निर्माण हुआ है। ये वे केन्द्र हैं जहाँ पाश्चात्य लोग वैदिक संस्कृति का मूल रूप से प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। बम्बई में भी श्री राधारासविहारीजी मन्दिर के रूप में एक विशाल सांस्कृतिक [illegible] शैक्षणिक केन्द्र का विकास हो चुका है। इसके अतिरिक्त भारत में बारह अन्य महत्वपूर्ण स्थानों में हरे कृष्ण मन्दिर खोलने की योजना कार्याधीन है।

किन्तु, श्रील प्रभुपाद का सबसे बड़ा योगदान उनके ग्रन्थ हैं। ये ग्रन्थ विद्वानों द्वारा अपनी प्रमाणिकता, गम्भीरता और स्पष्टता के कारण अत्यन्त मान्य है और अनेक महाविद्यालयों में उच्चस्तरीय पाठ्य ग्रन्थों के रूप में प्रयुक्त हैं। श्रील प्रभुपाद की रचनाएँ अट्ठाईस भाषाओं में अनूदित हैं। १९७२ में केवल श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए स्थापित भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विश्व का सबसे बड़ा प्रकाशक हो गया है। इस ट्रस्ट का एक अत्यधिक आकर्षक प्रकाशन श्रील प्रभुपाद द्वारा केवल अठारह मास में पूर्ण की गई उनकी एक अभिनव कृति है जो बंगाली धार्मिक महाग्रन्थ श्री चैतन्य चरितामृत का सत्तरह खण्डों में अनुवाद और टीका है।

बारह वर्षों में, अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता न करते हुए व्याख्यान-पर्यटन के रूप में श्रील प्रभुपाद ने विश्व के छहों महाद्वीपों की चौदह परिक्रमाएँ कीं। इतने व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी श्रील प्रभुपाद की उर्वरा लेखनी अविरत चलती था। उनकी रचनाएँ वैदिक दर्शन, धर्म, साहित्य और संस्कृति के एक यथार्थ पुस्तकालय का निर्माण करती है।

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु में रुचिवान् पाठकों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ अपने निम्नलिखित भारतीय केन्द्रों से सम्पर्क तथा पत्र-व्यवहार करने के लिए आमन्त्रित करता है:

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

१. हरे कृष्ण लैण्ड, जुहू, बम्बई—४०००५४
२. २१/ए, फिरोज गाँधी रोड, नई दिल्ली—११००२४
३. श्रीकृष्ण बलराम-मन्दिर, भक्तवेदान्त स्वामी मार्ग, रमणरेती वृन्दावन, (मथुरा उ. प्र.) दूरभाष: १७८
४. हरे कृष्ण लैण्ड, नमपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—५०००१। (आ. प्र.)
५. इस्कोन, हरे कृष्ण लैण्ड, दक्षिण मार्ग, नं. ५६६ सेक्टर, ३६-बी चण्डीगढ़ (पंजाब)
६. ७, कैलाश सोसाइटी, आश्रम रोड, अहमदाबाद (गुजरात)
७. ३६, क्रिसेन्ट रोड बंगलोर—१
८. ३, एल्बर्ट रोड, कलकत्ता—७०००१७ (पं बंगाल)
९. श्रीमायापुर चन्द्रोदय मन्दिर, पो. श्रीमायापुर धाम (नदिया, पं. बंगाल)

भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, हरेकृष्ण लैंड, जुहू—बंबई ४९

प्रथम आवृत्ति—ऑगस्ट १९८० /प्रतियां १०,०००

Published by Gopal Krishna for the Bhaktivedanta Book Trust, Hare Krishna Land, Juhu, Bombay. and Printed by A. E. Subramaniam, Orion Offset Printers, 4-Dhanraj Industrial Estate, Sun Mill Road, Lower Parel. Bombay 400 013. Telephone-378643.

विषय—सूची

१. भगवान् श्री कृष्ण मे कृष्ण-तत्त्व की प्राप्ति १
२. सांसारिक मोह-ममता मे मुक्ति १३
३. कृष्ण-प्रेम का अभ्याम २८
४. तपस्या का अभ्यास ४५
५ दृढ़तापूर्वक कृष्ण-भक्ति का साधन ५७
६. उपाधियों एवं समस्याओं का लघन ६५
७. अनुपम भेंट: कृष्ण-भक्ति के द्वारा मुक्ति ७५

१

भगवान् श्रीकृष्ण से कृष्ण-तत्त्व की प्राप्ति

इस श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन का लक्ष्य है—सम्पूर्ण जीवों को उनकी मौलिक चेतना की पुनः प्राप्ति कराना। भौतिक जगत् के सभी प्राणी विभिन्न अनुपात में एक प्रकार की उन्मत्तता से प्रभावित हैं। मनुष्य के भवरोग की चिकित्सा तथा उसकी मूल चेतना को पुनः स्थापित करना—इस लक्ष्य को सामने रखकर श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रगति कर रहा है। एक महान् वैष्णव कवि ने बंगाली कविता में लिखा है, "जब एक मनुष्य प्रेतग्रस्त रहता है तो वह केवल निरर्थक चर्चा ही कर सकता है। उसी प्रकार जो भी माया-शक्ति से प्रभावित है उसको प्रेतग्रस्त ही समझना चाहिए एवं उसके वचनों को निरर्थक।" भले ही किसी को एक महान् दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक मान लिया जाय परन्तु यदि वह माया (भ्रम) रूपी पिशाची से ग्रस्त है तो वह जो भी सिद्धान्त प्रस्तुत करता है और जो कुछ भी कहता है, वह प्रायः निरर्थक ही होता है। आज एक मानसिक रोगों के चिकित्सक का उदाहरण है जिसने एक हत्यारे का परीक्षण किया। उसनें यह निर्णय दिया कि उसके सम्पर्क में आने वाले प्रायः सभी रोगी

पागल थे अतः इन आधारों पर न्यायालय चाहे तो इस हत्यारे को भी क्षमा दान कर सकता है। विचार योग्य मुख्य बात तो यह है कि इस संसार में स्वस्थ मस्तिष्क वाले मनुष्य का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। जगत् में दुराचारिता का वातावरण भौतिक चेतना रूपी रोग की सांक्रमिकता के कारण है।

हरे कृष्ण आन्दोलन का उद्देश्य मानव को श्रीकृष्णभावनामृत अर्थात् विशुद्ध चेतना की पुनः प्राप्ति करना है, जो उसकी मूल चेतना है। जब बादलों से वर्षा होती है तब जल, स्रावित जल के समान शुद्ध रहता है परन्तु पृथ्वी का स्पर्श करते ही वह कीचड़युक्त एवं रंगीन हो जाता है। उसी प्रकार मूल रूप से हम श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं, शुद्ध आत्मा हैं अतः हमारी मौलिक स्वरूपगत-स्थिति ईश्वर के समान ही शुद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता (१५.७) में भगवान् श्रीकृष्ण के वचनामृत हैं :

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

"इस मौलिक जगत् में जीवात्मा मेरे भिन्न अंश हैं तथा वे सनातन हैं। परन्तु बद्ध दशा के कारण, मन सहित पाँच इन्द्रियों के द्वारा वे घोर संघर्ष कर रहे हैं।"

इस प्रकार सभी जीव श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश हैं। यह सदैव स्मरण रहना चाहिए कि श्रीकृष्ण शब्द सर्वाकर्षक भगवान् का सूचक है। जिस प्रकार स्वर्ण (सोना) का एक कण गुण की दृष्टि से स्वर्ण की खान के समान है वैसे ही श्रीकृष्ण के सूक्ष्म अंश भी गुण की दृष्टि से श्रीकृष्ण के सदृश ही हैं। भगवान् के शरीर की संरचना तथा जीव के शाश्वत (नित्य) आध्यात्मिक शरीर की संरचना एक है अर्थात् दोनों ही अप्राकृत हैं। इस प्रकार मूलतः अपनी विशुद्ध अवस्था में हमारा स्वरूप भी ईश्वर के स्वरूप के समान होता है परन्तु जिस प्रकार वर्षा पृथ्वी पर गिरती है उसी प्रकार हम भी इस भौतिक-

जगत् के सम्पर्क में आ जाते हैं। इस भौतिक जगत् का संचालन श्रीकृष्ण की माया-शक्ति (बहिरंगा शक्ति) के द्वारा किया जाता है।

जब हम बहिरंगा शक्ति या भौतिक प्रकृति कहते हैं तब प्रश्न उठ सकता है, "किसकी शक्ति ? किसकी प्रकृति ?" भौतिक शक्ति अथवा प्रकृति स्वाधीन रूप से क्रियाशील नहीं है। इसे स्वाधीन रूप से क्रियाशील मान लेना मूर्खता है। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है कि भौतिक प्रकृति स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य नहीं करती। मूर्ख मनुष्य जब एक यन्त्र (मशीन) देखता है तो वह भले ही सोच सकता है कि यन्त्र स्वयं ही चल रहा है परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। कोई यन्त्र को चलाने वाला है, उसका नियन्त्रक है यद्यपि कभी-कभी हम त्रुटिपूर्ण दृष्टि के कारण मशीन के नियन्त्रक को देख नहीं सकते। अनेक इलेक्ट्रॉनिक यन्त्र हैं जो अत्यन्त अद्भुत ढंग से कार्य करते हैं परन्तु इन जटिल साधनों के पीछे एक वैज्ञानिक है जो यन्त्र का बटन दबाता है। इसको समझना बहुत सरल है: यन्त्र एक जड़ पदार्थ है अतः अपने आप कार्य करने में समर्थ नहीं है परन्तु वह केवल परतत्त्व के निर्देशानुसार हीकार्य कर सकता है। एक टेप-रिकॉर्डर कार्य करता है परन्तु वह कार्य एक जीव (मनुष्य) की योजना एवं निर्देशन के अनुसार होता है। यन्त्र तो पूर्ण है परन्तु जब तक जीवात्मा के द्वारा संचालित न किया जाय तब तक वह कार्य नहीं कर सकता। उसी प्रकार हमें समझना चाहिए कि यह ब्रह्माण्ड जिसको हम प्रकृति कहते हैं एक महान् यन्त्र है और इस यन्त्र के पीछे भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इसे भी भगवद्गीता (९.१०) में सिद्ध किया गया है जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं:

मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्।
हेतुअनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र ! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण

जगत् का बारम्बार सृजन और संहार होता है।"

दो प्रकार के प्राणी हैं—चर (जैसे मनुष्य, पशु, कीट इत्यादि) तथा अचर (जैसे पेड़ और पर्वत)। श्रीकृष्ण कहते हैं कि चर एवं अचर दोनों ही प्रकार के जीवों पर नियन्त्रण रखने वाली भौतिक प्रकृति उनकी (श्रीकृष्ण की) अध्यक्षता में कार्य कर रही है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के पीछे परम ईश्वर श्रीकृष्ण हैं। आधुनिक सभ्यता, ज्ञान के अभाव के कारण इसको नहीं समझती; अतः इस श्रीकृष्णभावनामृत संघ का उद्देश्य उन सभी लोगों को प्रकाश देना है जो प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव से पागल हो चुके हैं। दूसरे शब्दों में, हमारा लक्ष्य अपनी सामान्य अवस्था पर पहुँचने के लिये मानव को जाग्रत करना है।

सभी देशों में अनेक विश्वविद्यालय तथा ज्ञान के विभागों की भरमार है परन्तु वे इन विषयों पर विचार नहीं कर रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता में दिये गये इस ज्ञान को प्राप्त कराने वाला विभाग कौन सा है? जब मैंने मैसाच्युसेट्स इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी (अमेरिका का सुप्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र) के विद्यार्थी एवं शिक्षकों के सामने प्रवचन दिया तो मेरा प्रथम प्रश्न था, "एक मृत एवं जीवित मनुष्य में अन्तर की खोज करने वाला तकनीकी विभाग कहाँ है?" जब एक मनुष्य की मृत्यु होती है तो कोई वस्तु नष्ट हो जाती है। कहाँ है वह विज्ञान जो उस वस्तु को फिर से प्राप्त करा सके? वैज्ञानिक इस समस्या को हल करने का प्रयत्न क्यों नहीं करते? क्योंकि यह अत्यधिक कठिन विषय है अतः उन्होंने इसे अलग रख दिया है तथा आहार, निद्रा, भय (आत्म-रक्षा) एवं मैथुन की तकनीकी में व्यस्त हैं। किन्तु, वैदिक साहित्य हमें सूचित करते हैं कि यह पशु सभ्यता है। पशु भी उत्तम भोजन, सुखद मैथुन, शान्तिपूर्वक निद्रा तथा अपनी रक्षा करने का सर्वोच्च प्रयत्न कर रहे हैं। तब फिर मनुष्य एवं पशुओं के ज्ञान में अन्तर ही क्या रहा?

तथ्य यह है कि जीवित एवं मृत व्यक्ति और जीवित तथा मृत शरीर में अन्तर की खोज करने के लिये मनुष्य का ज्ञान विकसित किया जाना चाहिये। वह आध्यात्मिक ज्ञान, भगवद्गीता के आरम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिया गया। अर्जुन अत्यन्त बुद्धिमान् थे परन्तु उनका ज्ञान सब मनुष्यों के समान ही सीमित था। किन्तु, श्रीकृष्ण ने जो विषय कहे वे अर्जुन के सीमित ज्ञान से परे थे। इन विषयों को **अधोक्षज** कहा जाता है क्योंकि भौतिक ज्ञान प्राप्त कराने वाली हमारी इन्द्रिय-प्रतीति प्रत्यक्ष रूप से इनको ग्रहण करने में असफल होती है। उदाहरण के लिये, अपनी सीमित दृष्टि से परे सूक्ष्म वस्तुओं को देखने के लिये हमारे पास अनेक शक्तिशाली सूक्ष्म-दर्शी (माइक्रस्कोप) हैं परन्तु शरीर के भीतर आत्मा को दिखाने वाला कोई सूक्ष्मदर्शी नहीं है। फिर भी आत्मा वर्त्तमान है।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता हमें सूचना देती है कि इस देह में एक देही (स्वामी) है। "मैं" अपनी देह का स्वामी हूँ तथा दूसरे अपने शरीर के स्वामी हैं। मैं "मेरा हाथ" कहता हूं, "मैं हाथ" नहीं। क्योंकि यह "मेरा हाथ" है इसलिये इसका स्वामी होने के कारण मैं हाथ से भिन्न हूँ। उसी प्रकार हम बोलते हैं, "मेरे नेत्र", "मेरे पैर", "मेरा यह", "मेरा वह।" इन सब वस्तुओं का मैं स्वामी तो अवश्य हूँ परन्तु मैं हूँ कहाँ ? इस प्रश्न के उत्तर की खोज करना ध्यान है। ध्यान की सच्ची विधि में हम पूछते हैं, "मैं कौन हूँ ? मैं कहाँ हूँ ?" किसी भी भौतिक उद्यम के द्वारा हम इन प्रश्नों का उत्तर नहीं पा सकते, इसीलिये समस्त विश्वविद्यालय इन प्रश्नों को अलग रख दे रहे हैं। उनका कहना है, "यह तो बहुत कठिन विषय है।" अथवा, "यह असंगत है।" इस प्रकार यन्त्रीगण (इन्जीनियर) अश्वरहित रथ एवं पंखविहीन पक्षी की रचना करने में तथा इनको पूर्ण बनाने के प्रयत्न में अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। पहले अश्व (घोड़े) रथ चलाते थे तो वायुमण्डल दूषित न था परन्तु अब मोटर तथा रॉकेट

हैं जिन पर वैज्ञानिकों को अत्यन्त गर्व है। "हमने अश्वरहित रथ एवं पंखविहीन पक्षियों का आविष्कार कर लिया हैं," वे शेखी मारते हैं। यद्यपि उन्होंने वायुयान अथवा रॉकेटों के लिये नकली पंखों का आविष्कार कर लिया है परन्तु वे एक आत्माविहीन शरीर का आविष्कार नहीं कर सकते। जब वे वास्तव में ऐसा कर सकेंगे तभी वे प्रशंसा के पात्र होंगे। परन्तु ऐसा करने का प्रयास अवश्य ही असफल होगा क्योंकि हमें यह ज्ञात है कि जीवात्मा की सहायता के बिना कोई भी यन्त्र कार्य नहीं कर सकता है। यहाँ तक कि अत्यधिक जटिल कम्प्युटर यन्त्रों से कार्य लेने के लिये भी प्रशिक्षित मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती है। उसी प्रकार हमें ज्ञात होना चाहिये कि ब्रह्माण्ड के नाम से जाने वाला यह महान् यन्त्र परम-आत्मा के द्वारा संचालित किया जाता है। और वह परमात्मा हैं—श्रीकृष्ण।

वैज्ञानिक लोग इस भौतिक-जगत् के परम कारण या सर्वोच्च नियन्त्रक (परम ईश्वर) की खोज कर रहे हैं। वे इस विषय पर विविध सिद्धान्तों एवं प्रस्तावों की परिकल्पना भी कर रहे हैं परन्तु ज्ञान प्राप्त करने की वास्तविक विधि अत्यन्त सरल एवं पूर्ण है; हमें केवल पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से सुनने की आवश्यकता भर है। भगवद्गीता में दिये गये ज्ञान को स्वीकार करने के द्वारा कोई भी तत्काल यह ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि यह ब्रह्माण्ड जिसका एक अंश पृथ्वी है, इतने अद्भुत ढंग से इसीलिये कार्य कर पा रहा है क्योंकि इसके पीछे एक चालक हैं—श्रीकृष्ण हैं।

ज्ञान प्राप्त करने की हमारी विधि बहुत सरल है। श्रीकृष्ण का उपदेश 'भगवद्गीता', स्वयं भगवान्, आदिपुरुष एवं परम-ईश्वर द्वारा दिये गये ज्ञान का प्रमुख ग्रन्थ है। यथार्थ में तो वे ही पूर्ण पुरुष हैं। यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि हम लोगों ने श्रीकृष्ण को पूर्ण पुरुष स्वीकार कर लिया है परन्तु अनेक हैं जो ऐसा नहीं मानते। हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि इस प्रकार स्वीकार कर लेना एक

सनक है; अनेक महाजनों के प्रमाण के आधार पर ही श्रीकृष्ण को पूर्ण माना गया है। हम केवल अपनी सनक या भावुकता के आधार पर श्रीकृष्ण को पूर्ण नहीं स्वीकार करते। नहीं—श्रीकृष्ण, समस्त वैदिक साहित्य के रचयिता श्री व्यासदेव जैसे वैदिक महाजनों के द्वारा स्वयं-भगवान् स्वीकार किये गये हैं। वेदों में ज्ञान का भण्डार भरा पड़ा है और उनके रचयिता श्री व्यासदेव, श्रीकृष्ण को भगवान् मानते हैं। व्यासदेव जी के गुरुदेव श्री नारद भी यही स्वीकार किये हैं। नारद जी के गुरु, ब्रह्मा श्रीकृष्ण को न केवल आदिपुरुष वरन् परम-ईश्वर (सबसे ऊँचे नियन्त्रक) भी स्वीकार करते हैं—**ईश्वरः परमः कृष्णः**—"परम-ईश्वर तो श्रीकृष्ण हैं।"

सृष्टि में कोई ऐसा है ही नहीं जो यह दावा कर सके कि वह नियन्त्रित नहीं है। प्रत्येक जीव, चाहे वह कितना भी महत्वपूर्ण अथवा शक्तिशाली क्यों न हो, उसके ऊपर एक नियन्त्रक है। किन्तु, श्रीकृष्ण का नियन्त्रक कोई नहीं है; अतएव वे भगवान् हैं। वे सब के नियन्त्रक हैं परन्तु उनसे श्रेष्ठ कोई भी नहीं है और न उन पर कोई नियन्त्रण करने वाला ही है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के समान भी कोई नहीं है; उनकी परम ईश्वरता में हिस्सा लेने वाला कोई नहीं है। यह सब सुनने में भले ही अति विचित्र लगता हो क्योंकि आजकल तो नाम भर के अनेक भगवान् हो गये हैं। विशेषकर, भारत से भगवानों का निर्यात होने के कारण, यथार्थ में भगवान् बहुत सस्ते हो चुके हैं। दूसरे देशों के लोग भाग्यवान् हैं जो कि उनके यहाँ भगवानों का निर्माण नहीं होता परन्तु हमारे भारत देश में व्यवहारिक रूप से प्रत्येक दिन ही नये-नये भगवान् बनते जा रहे हैं। हम प्रायः सुनते हैं कि भगवान् लॉस एन्जिलस अथवा बम्बई में पदार्पण कर रहे हैं और जनता उनके स्वागत के लिये एकत्रित हो रही है इत्यादि-इत्यादि। परन्तु, श्रीकृष्ण यौगिक कारखाने (फैक्ट्री) में बनने वाले भगवान् के समान नहीं हैं। नहीं—**श्रीकृष्ण भगवान् बनाये नहीं गये वरन् वे भगवान् हैं।**

महाजनों के प्रमाण के आधार पर हमें यह ज्ञात होना चाहिये कि इस विशाल भौतिक प्रकृति, इस ब्रह्माण्ड के पीछे भगवान् श्रीकृष्ण हैं एवं उन्हें वेदों के समस्त महाजनों द्वारा स्वीकार किया गया है। महाजन अथवा प्रमाण को मानना हमारे लिये कोई नवीन वस्तु नहीं; हममें से प्रत्येक किसी न किसी रूप में सत्ता को स्वीकार करते हैं। शिक्षा के लिये हम एक शिक्षक के पास या विद्यालय जाते हैं अथवा अपने माता-पिता से ही कुछ सीखते हैं। ये सब महाजन (सत्ता) हैं और हमारा स्वभाव ही उनसे कुछ सीखना है।

बाल्यकाल में हम पिता से पूछते थे, "पिताजी यह क्या है ?" और पिता कहते, "यह कलम है," "यह चश्मा है," अथवा "यह मेज है।" इस प्रकार जीवन के आरम्भ से ही बालक अपने माता-पिता से शिक्षा लेता है। उनसे प्रश्न पूछने के द्वारा वह वस्तुओं के नाम तथा उनका एक दूसरे से सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करता है। एक भले माता-पिता अपने पुत्र के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उसको कदापि धोखा नहीं दिया करते वरन् उसे यथार्थ एवं सही सूचना देते हैं। उसी प्रकार अप्राकृत जानकारी, हम एक महाजन से प्राप्त करते हैं और यदि वह महाजन धोखेबाज नहीं है, तभी हमारा ज्ञान पूर्ण है। यदि हम अपने मनोधर्म की शक्ति के आधार पर निष्कर्ष पर पहुँचना चाहेंगे तो यह हमारी त्रुटि है। आरोह विधि के द्वारा मनुष्य विशेष तथ्यों अथवा व्यक्तिगत उदाहरणों के आधार पर, कारण ढूंढ़ता हुआ सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न कर सकता है परन्तु ऐसी विधि कभी भी पूर्ण नहीं है। क्योंकि हम सीमित हैं, हमारे अनुभव सीमित हैं अतः यह विधि भी सदैव अपूर्ण बनी रहेगी।

यदि हम पूर्णतम स्रोत—श्रीकृष्ण से सूचना प्राप्त कर उसे दोहराते हैं तब हमारे द्वारा जो कहा जा रहा है उसे भी पूर्ण एवं प्रमाणिक माना जा सकता है। गुरु-परम्परा की विधि ही यह है कि श्रीकृष्ण अथवा श्रीकृष्ण को स्वीकार करने वाले महाजनों से श्रवण

कर उस ज्ञान को यथारूप दोहराना। श्रीमद्भगवद्गीता (४.२) में भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञान प्राप्त करने की इसी विधि का अनुमोदन करते हैं :

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।

"इस प्रकार गुरु-परम्परा के द्वारा यह परम विज्ञान प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इस विधि से जाना।"

पूर्वकाल में महान् राजर्षियों द्वारा ज्ञान वितरित किया जाता था और ये राजर्षि महाजन थे। ये राजा लोग ऋषि—अर्थात् अत्यन्त विद्वान् एवं भक्त होते थे। और क्योंकि वे साधारण मनुष्य नहीं थे इसलिये उनका शासन भी सुन्दर ढङ्ग से चलता था। वैदिक सभ्यता में ऐसी कई घटनायें हैं जिनमें राजाओं ने भी भगवान् के भक्त के रूप में सिद्धि प्राप्त कर ली। उदाहरण के लिये ध्रुव महाराज भगवान् को खोजने वन में गये और कठोर तपस्या के द्वारा छः माह के भीतर ही भगवान् को प्राप्त कर लिया था। यद्यपि वे पाँच वर्ष के अत्यन्त सुकोमल राजपुत्र थे फिर भी वे सफल बने क्योंकि उन्होंने अपने गुरु महाराज नारदजी के उपदेशों का पालन किया। वन में वास करते समय पहले महीने ध्रुव महाराज ने तीन दिन में एक बार अल्प फल एवं शाक खाया एवं हर छः दिन में थोड़ा सा एक बार जल पिया। अन्त में वे श्वास को रोक कर छः माह तक एक पैर पर खड़े रहे। छः माह की कठिन तपस्या के पश्चात् भगवान् उनके सन्मुख साक्षात् प्रकट हुए। हम लोगों के लिए इतनी कठोर तपस्या करना आवश्यक नहीं है परन्तु वैदिक महाजनों के चरण चिह्नों का केवल अनुसरण करने मात्र से हम भी भगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। भगवान् का यह दर्शन जीवन की सिद्धि है।

श्रीकृष्णभावनामृत की विधि तपस्या पर आधारित है परन्तु यह तपस्या बहुत कठिन नहीं है। भोजन और मैथुन पर प्रति-बन्ध के लिये नियम हैं (केवल कृष्ण-प्रसाद ही ग्रहण किया जाता है

तथा विवाहित जीवन में ही मैथुन की आज्ञा है वह भी प्रतिबन्धित) आध्यात्मिक साक्षात्कार में सहायक अन्य विधि-विधान भी हैं। आज-कल ध्रुव महाराज का अनुकरण (नकल) करना सम्भव नहीं है परन्तु कुछ आधारभूत वैदिक सिद्धान्तों का पालन करके हम श्रीकृष्णभावनामृत (आध्यात्मिक चेतना) में प्रगति कर सकते हैं। प्रगति करने के साथ-साथ हम ज्ञान में पूर्ण बनते जाते हैं। हमें ऐसे वैज्ञानिक या दार्शनिक बनने से लाभ ही क्या है जो यह तक नहीं कह सकते कि हमारा अगला जीवन क्या होगा ? श्रीकृष्णभावनामृत का अनुभूत भक्त अत्यन्त सरलता से कह सकता है कि उसका अगला जीवन क्या है, भगवान् क्या हैं, जीव क्या है और जीव का भगवान् के साथ क्या सम्बन्ध है। उस भक्त का ज्ञान पूर्ण है क्योंकि वह श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्-भागवत जैसे ज्ञान के परिपूर्ण ग्रन्थों से शिक्षा प्राप्त कर रहा है।

तो, श्रीकृष्णभावनामृत की यह विधि है। यह बहुत सरल है और कोई भी इसको ग्रहण कर अपना जीवन पूर्ण कर सकता है। यदि कोई कहे, "मैं बिल्कुल ही शिक्षित नहीं हूँ, मैं ग्रन्थ पढ़ नहीं सकता हूँ," फिर भी वह अयोग्य नहीं है। वह भी अपना जीवन हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥ महामन्त्र का कीर्त्तन करने मात्र से पूर्ण बना सकता है। श्रीकृष्ण ने हमें एक जीभ तथा दो कान दिये हैं और हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि श्रीकृष्ण का साक्षात्कार कर्ण (कान) एवं जिह्वा (जीभ) के माध्यम से होता है नेत्रों से नहीं। भगवान् की कथा-श्रवण से हम जीभ पर नियन्त्रण करना सीखते हैं तथा जीभ पर नियन्त्रण होने के पश्चात् अन्य सभी इन्द्रियाँ स्वतः नियन्त्रित हो जाती हैं। समस्त इन्द्रियों में जीभ सर्वाधिक प्रबल तथा नियन्त्रित करने में कठिन है परन्तु, केवल हरे कृष्ण कीर्त्तन एवं कृष्ण-प्रसाद ग्रहण करने के द्वारा इसे नियन्त्रित किया जा सकता है।

हम इन्द्रिय-प्रतीति या मनोधर्म के द्वारा श्रीकृष्ण को नहीं

समझ सकते। ऐसा सम्भव ही नहीं है, क्योंकि श्रीकृष्ण इतने महान् हैं कि वे हमारे प्रत्यक्ष अनुभव की सीमा में नहीं आ सकते। परन्तु वे समर्पण (शरण) के द्वारा जाने जा सकते हैं। अतः भगवान् श्रीकृष्ण इसी विधि का अनुमोदन करते हैं :

सर्वं धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"सर्व प्रकार के धर्मों का त्याग कर केवल मेरी शरण में आओ; बदले में सब पापों से मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। अतः तुम कुछ भय मत करो।" (गीता १८.६६)

दुर्भाग्यवश हमारा रोग यह है कि हम विद्रोही हैं—हम स्वाभाविक ही अधिकारियों का प्रतिरोध करते हैं। तो, यद्यपि हम भले ही कहते रहें कि हम सत्ता नहीं चाहते तद्यपि प्रकृति इतनी शक्तिशाली है हम पर बलपूर्वक शासन करती है। हमें प्रकृति की सत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इससे अधिक मर्मस्पर्शी बात क्या हो सकती है कि जो मनुष्य किसी भी सत्ता के अधीन न रहने का दावा करता है, वही अन्धा बनकर अपनी इन्द्रियों के पीछे भागता फिरता है? स्वाधीन रहने का हमारा मिथ्या दावा केवल मूर्खता है। हम सब अधिकारियों के अधीन हैं फिर भी हम कहते रहते हैं कि हम शासन नहीं चाहते। यही माया (भ्रम) कहलाती है। किन्तु, हमारे पास थोड़ी सी स्वाधीनता है—हम इन्द्रियों की अथवा श्रीकृष्ण की सत्ता के अधीन रहने का चुनाव कर सकते हैं। सर्वोत्तम तथा परम सत्ता (महाजन) श्रीकृष्ण हैं क्योंकि वे हमारे नित्य शुभाकांक्षी हैं और सदैव हमारे लाभ के लिये ही वचन कहते हैं। क्योंकि हमें किसी न किसी की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है तो क्यों न श्रीकृष्ण की सत्ता स्वीकार की जाय? श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवत से उनका यश केवल श्रवण करने तथा उनका नाम कीर्त्तन—हरे कृष्ण—करने मात्र से हम शीघ्र ही अपना जीवन पूर्ण बना सकते हैं।

२

सांसारिक मोह-ममता से मुक्ति

हमारी विषय वस्तु—भगवन्नाम का यश-गान—सर्वाधिक उत्कृष्ट है। इस विषय की महाराज परीक्षित् तथा श्रीशुकदेव गोस्वामी के मध्य चर्चा हुई थी। उन्होंने विचार किया कि अजामिल ब्राह्मण जो अत्यधिक पतित एवं सब प्रकार के पापों में संलग्न था, उसकी रक्षा श्रीनारायण (कृष्ण) नाम का केवल कीर्त्तन करने से हो गई। यह कथा श्रीमद्भागवत के छठें स्कन्ध में आती है। श्रीमद्भागवत श्रीव्यासदेव द्वारा रचित महापुराण है जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है एवं श्रीकृष्णभावनामृत के दर्शन की विस्तार से व्याख्या है।

श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में ब्रह्माण्ड के लोकों का पूर्ण रूप से वर्णन किया गया है। ब्रह्माण्ड के अन्दर तीन लोक हैं—भु, भुवः, एवं स्वर्लोक (निम्न, मध्यम एवं उच्च लोक)। वास्तव में, न केवल भागवत में वरन् अन्य धर्म-ग्रन्थों में भी नरक अथवा निम्न लोकों का तथा उच्च या स्वर्ग लोकों का वर्णन पाया जाता है। श्रीमद्भागवत प्रमाण देता है कि ये लोक कहाँ स्थित हैं और इस पृथ्वी से कितनी दूरी पर हैं। जिस प्रकार खगोल शास्त्रियों ने पृथ्वी से चन्द्र एवं सूर्य तथा अन्य ग्रहों की दूरी की गणना की है, उसी प्रकार, भागवत में विविध लोकों का वर्णन पाया जाता है।

यहाँ तक कि इस पृथ्वीलोक में भी हम विभिन्न जलवायु का अनुभव करते हैं। अमेरिका जैसे ठण्डे देश की जलवायु भारतवर्ष जैसे ऊष्ण कटिवन्ध वाले देश से भिन्न है। जिस तरह से इस लोक में वातावरण तथा जलवायु में अन्तर है उसी प्रकार दूसरे लोकों में भी भिन्न-भिन्न वातावरण एवं जलवायु पाई जाती है। शुकदेव गोस्वामी से ऐसे लोकों का वर्णन सुनने के पश्चात् परीक्षित् महाराज ने कहा :

अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नरः।
नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥

"महाभाग, मैंने आपसे नरक के विषय में श्रवण किया। पापी मनुष्य वहाँ भेजे जाते हैं। जिन कर्मों के द्वारा उन भयंकर यातनापूर्ण नरकों में न जाना पड़े मुझे उनका उपदेश कीजिये।" (भागवत ६.१.६)

परीक्षित् महाराज एक वैष्णव-भक्त थे और वैष्णव सदैव दूसरों के कष्ट से दुखी रहते हैं। उदाहरण के लिये, जीजस क्राइस्ट जब प्रकट हुये तो लोगों की कष्टमय दशा देखकर अत्यन्त विकल हो उठते थे। इस प्रकार सभी वैष्णव या भक्त अर्थात् जो कोई भी भगवद्भक्त अथवा कृष्ण-भक्त हैं—चाहे किसी देश या सम्प्रदाय से सम्बन्धित हों वे सदा ही दयालु होते हैं। अतः एक वैष्णव अर्थात् भगवान् की महिमा के प्रचारक की निन्दा करना महान् अपराध है।

शुद्ध वैष्णवों के चरणकमल में किये गये अपराध को श्रीकृष्ण कभी भी सहन नहीं करते। किन्तु, वैष्णव ऐसे अपराधों को सदैव क्षमा कर देने के लिये तत्पर रहते हैं। 'कृपाम्बुधिः' वैष्णव कृपा के सागर होते हैं। 'वाञ्छाकल्पतरु'—प्रत्येक के मन में कोई न कोई वाञ्छा (इच्छा) रहती है परन्तु वैष्णव उन समस्त इच्छाओं को पूर्ण कर सकते हैं। कल्पतरु (कल्पवृक्ष) वैकुण्ठ-जगत् में होता है, जिसके द्वारा सव इच्छायें पूर्ण हो सकती हैं। इस भौतिक-जगत् में एक वृक्ष से एक विशेष फल ही प्राप्त किया जा सकता है परन्तु कृष्णलोक तथा चिदाकाश (परव्योम) के अन्य दूसरे लोकों में समस्त वृक्ष अप्राकृत हैं

तथा इच्छानुरूप वस्तुयें प्रदान करते हैं। इसका वर्णन ब्रह्म-संहिता में आया है (**चिन्तामणिप्रकरसद्मसुकल्पवृक्ष**)। शुद्ध वैष्णव की तुलना कल्पवृक्ष से की जाती है क्योंकि वे निश्छल शिष्य को एक अनुपम भेंट, कृष्ण-भक्ति—प्रदान कर सकते हैं।

वैष्णव को 'महाभाग' अर्थात् सौभाग्यशाली कहा जाता है। जो वैष्णव बन जाते हैं और भगवद्भाव की प्राप्ति करते हैं उनको महा-भाग्यवान् समझा जाता है। इस युग में, श्रीकृष्णभावनामृत के प्रधान शिखर भगवान् श्रीमन् गौरसुन्दर महाप्रभु ने व्याख्या की है कि ब्रह्माण्ड के विविध लोकों में जीवात्मा भिन्न-भिन्न योनियों में भ्रमण कर रहा है। जीव जहाँ चाहे स्वर्ग अथवा नरक—उस स्थान की तैयारी करके वहाँ जा सकता है। अनेक स्वर्गलोक, अनेक नरक तथा अनेक योनियाँ हैं। पद्मपुराण में चौरासी लाख योनियों का वर्णन है और जीवात्मा अपने वर्त्तमान जीवन के मन की प्रवृत्ति के अनुसार शरीरों की रचना करता हुआ इन योनियों में चक्कर काट रहा है। "जैसा बोना वैसा काटना," यह नियम यहाँ चरितार्थ होता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते हुये इन असंख्य जीवों में कोई एक भाग्यवान् जीवात्मा ही कृष्ण-भक्ति को ग्रहण कर पाता है। श्रीकृष्णभावनामृत का सर्वत्र बिना किसी मूल्य के वितरण किया जाता है परन्तु कलियुग में विशेषकर, सभी लोग इसको स्वीकार नहीं कर पाते। इसी कारण श्रीमद्भागवत ग्रन्थ कलियुग के जीवों को विशेष रूप से मन्द भाग्य कहकर वर्णन करता है। अतः श्रीमन् गौरांग महाप्रभु कहते हैं कि केवल भाग्यशाली लोग ही इस श्रीकृष्ण-भावनामृत को ग्रहण करते हैं और फलस्वरूप आनन्दमय ज्ञान का जीवन प्राप्त करते हैं।

वैष्णव का यह कर्त्तव्य है कि वे घर-घर जाकर अभागे लोगों को सौभाग्यशाली बनाने का प्रयत्न करें। वैष्णव सोचते हैं, "किस प्रकार ये लोग इस नारकीय जीवन से छुटकारा पा सकते हैं?" यही

जिज्ञासा परीक्षित् महाराज ने भी की। "महाभाग" उन्होंने कहा, "आपने वर्णन किया कि मनुष्य के पापों के कारण उसे नारकीय जीवन में अथवा नरकों में रखा जाता है। ऐसा व्यक्ति कैसे बचाया जा सकता है" यह अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है। जब वैष्णव आते हैं, भगवान् प्रकट होते हैं या उनके पुत्र अथवा अत्यन्त अन्तरंग भक्त आते हैं तो उन लोगों का एकमात्र उद्देश्य रहता है—कष्ट पाते हुये पापियों की रक्षा करना। यह रक्षा किस प्रकार करनी है, इसका ज्ञान उनको रहता है। जब प्रह्लाद महाराज को श्रीनृसिंहदेव के दर्शन हुये तो उन्होंने कहा :

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥

(भागवत ७.९.४३)

'प्रिय प्रभो,' प्रह्लाद महाराज आरम्भ किये, "मुझे अपनी मुक्ति की तनिक भी उत्सुकता नहीं है।" यह भाव मायावादी दार्शनिकों की विचारधारा का विरोधी है। वे लोग सदैव बहुत सावधान रहते हैं कि उनके स्वयं की मुक्ति में कोई बाधा न पड़े। वे प्रायः यह सोचते हैं, "यदि मैं प्रचार करने जाऊँ तो दूसरों के संग के कारण मेरा पतन हो सकता है, तब मेरी अनुभूति का भी अन्त हो जायेगा।" अतएव वे प्रचार करने में आगे नहीं आते। पतन होने के संकट के मूल्य पर भी केवल वैष्णव ही प्रचार के लिये तत्पर रहते हैं—यद्यपि उनका पतन कभी भी नहीं होता। वैष्णव बद्ध जीवों के उद्धार के लिये नरक में भी जाने के इच्छुक रहते हैं। प्रह्लाद महाराज का भी यही उद्देश्य है। उन्होंने आगे कहा, "मेरे लिये तो इस संसार में कोई चिन्ता नहीं है। मुझे अपने लिये कोई भय नहीं है किसी न किसी प्रकार मुझे सदैव कृष्ण-भक्त बने रहने का प्रशिक्षण दिया गया है।" क्योंकि प्रह्लाद

महाराज का चित्त कृष्णभावित था अतः उन्हें यह विश्वास था कि अगले जीवन में वे श्रीकृष्ण का साक्षात् संग प्राप्त करेंगे। भगवद्गीता में आता है कि यदि मनुष्य श्रीकृष्णभावनामृत के नियमों का सावधानीपूर्वक पालन करे तो यह निश्चय है कि अगले जीवन में वह परम गति (गन्तव्य) को प्राप्त करेगा। प्रह्लाद महाराज आगे कहते हैं, "मुझे केवल एक शोक है, जो कृष्ण-भक्त नहीं हैं उनके लिये मैं चिन्तित हूँ। मुझे स्वयं के लिये कोई भय नहीं है परन्तु मैं उन लोगों के विषय में सोच रहा हूँ।" अन्य लोग कृष्ण-भक्त क्यों नहीं हैं? **मायासुखाय-भरमुद्वहतो विमूढान्** ।विमूढ़ों ने अस्थायी इन्द्रिय सुख के लिये मायावी सभ्यता का निर्माण किया है।

मायासुखाय—वास्तव में यह तथ्य है। हम एक मायावी सभ्यता की रचना करने में सफल हुए हैं। प्रत्येक वर्ष अनेक मोटरों का निर्माण होता है इसलिये अनेक सड़कें बनायी जाती हैं तथा पुरानी सड़कों की मरम्मत की जाती है। इससे केवल एक समस्या के बाद दूसरी समस्या खड़ी होती जाती है अतः यह **मायासुखाय** अर्थात् भ्रमपूर्ण सुख है। हम सुखी होने के लिये किसी विधि का निर्माण करने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु हमें केवल समस्याओं की वृद्धि करने में ही सफलता प्राप्त हुई है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में, मोटरों की संख्या विश्व में सबसे अधिक है परन्तु इससे समस्या का हल नहीं निकलता। हमने मोटरों का निर्माण किया है जीवन की समस्याओं को सुलझाने में सहायता के लिये परन्तु हम प्रायः यही अनुभव करते हैं कि इससे दूसरी समस्यायें उत्पन्न होती जाती हैं। एक बार मोटर बना लेने का फल यह निकलता है कि अपने मित्र अथवा एक डॉक्टर से केवल भेंट करने के लिये हमें तीस-चालीस मील की यात्रा करनी पड़ती है। हम जिस स्थान पर वायुयान से एक घण्टे से भी कम समय में पहुँच सकते हैं, वहीं विमान तल (हवाई अड्डे) तक पहुँचने में इसमें अधिक

समय लग जाता है। यही स्थिति **मायासुखाय** कहलाती है। माया का अर्थ है मिथ्या या भ्रामिक। हम अत्यन्त सुविधाजनक स्थिति का निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु हमें केवल अन्य असुविधाजनक स्थितियाँ बनाने में ही सफलता मिलती है। भौतिक जगत् में यही होता है, यदि हम ईश्वर और प्रकृति के द्वारा दी गई प्राकृतिक सुविधाओं से सन्तुष्ट नहीं होते और कृत्रिम सुविधाओं की रचना करना चाहते हैं तो हमें असुविधाओं का भी निर्माण करना पड़ेगा। अधिकांश लोगों को इस वास्तविकता का ज्ञान नहीं है अतः वे सोचते हैं कि वे अत्यन्त सुविधापूर्ण स्थिति का निर्माण कर रहे हैं। परन्तु वास्तव में इसका परिणाम अन्त में यह निकलता है कि उन्हें जीवन के निर्वाह हेतु कार्यालय जाने के लिये पचास मील तथा घर लौटने के लिये पुनः पचास मील की यात्रा करनी पड़ती है।

ऐसी दशाओं के कारण ही प्रह्लाद महाराज कहते हैं कि इन विमूढ़ (विषयी) लोगों ने केवल अस्थायी सुख के लिये अनावश्यक ही स्वयं के ऊपर बोझ लाद रखा है। **विमूढान्, मायासुखाय भरमुद्वहतो**। इसलिये वैदिक सभ्यता में इसका समर्थन किया जाता है कि मनुष्य अपने को सांसारिक जीवन से मुक्त कर, संन्यास ग्रहण करे तथा निश्चिंतता के साथ भक्ति का साधन करे।

किन्तु, संन्यास ग्रहण करना सदा आवश्यक नहीं होता। यदि कोई परिवार में रहकर श्रीकृष्णभावनामृत का साधन कर सकता है तो वह भी उचित है। यद्यपि श्रील भक्तिविनोद ठाकुर (१८३८–१९१४) एक गृहस्थ एवं दण्डाधिकारी (मॅजिस्ट्रेट) थे फिर भी उन्होंने अत्यन्त सुन्दर ढंग से भक्ति का साधन किया। ध्रुव और प्रह्लाद महाराज भी गृहस्थ थे परन्तु उन्होंने अपने को इस प्रकार प्रशिक्षित कर लिया था कि गृहस्थ रहते हुये भी उनकी भगवद्‌सेवा में बाधा नहीं पड़ी। अतएव प्रह्लाद महाराज ने कहा, "मैंने तो श्रीकृष्णभावनामृत में सदैव मग्न रहने की कला सीख ली है।" वह कला क्या है?

तद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः भगवान् की वीरता एवं लीलाओं का केवल यशगान करना। वीर्यं शब्द का अर्थ है "अत्यन्त वीरतापूर्ण।" श्रीमद्भागवत का पाठ करने से हम समझ सकते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण के कार्य, उनकी प्रसिद्धि, उनके पार्षद तथा उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु वीरतापूर्ण है। इस विषय में प्रह्लाद महाराज ने कहा, "मुझे विश्वास है कि मैं जहाँ भी जाऊँगा आपके वीरतापूर्ण कार्यों का गुणगान करके सुरक्षित रह सकता हूँ। मेरे पतन का प्रश्न ही नहीं उठता परन्तु मुझे केवल उन लोगों की चिन्ता है जिन्होंने सदैव कठोर परिश्रम में ही संलग्न रहने वाली सभ्यता का निर्माण किया है। मैं उनके लिये सोच कर रहा हूँ।" प्रह्लाद महाराज आगे कहते हैं :

प्रायेण देव मुनयः स्वमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥

"प्रिय प्रभो, अनेक ऋषि-मुनि हैं जो केवल स्वयं की मुक्ति में अत्यधिक रुचि रखते हैं। वे हिमालय पर्वत जैसे निर्जन स्थानों में मौन व्रत लेकर वास करते हैं। उन्हें नगर के साधारण मनुष्यों के संग से, विचलित अथवा पतित हो जाने तक का भय बना रहता है। वे सोचते हैं, स्वयं की रक्षा करना श्रेष्ठ है।" मुझे इन सन्तों के व्यवहार पर खेद होता है—कि ये नगर में नहीं आते हैं जहाँ लोगों ने निरन्तर कठिन परिश्रम के आधार पर सभ्यता की रचना कर रखी है। ऐसे ऋषि-मुनि अत्यन्त कृपालु नहीं हैं परन्तु मुझे तो इन पतित जीवों की चिन्ता है जो केवल इन्द्रियों को तृप्त करने के लिये अनावश्यक ही कठोर परिश्रम कर रहे हैं।" (भागवत ७.६.४४)

यदि इतना कठोर परिश्रम करने में कुछ सद्-उद्देश्य रहता भी हो तो लोग उसको जानते ही नहीं। उन्हें केवल काम वासना तथा उसको तृप्त करने के लिये वेश्यालयों भर का ज्ञान है। प्रह्लाद महाराज

इन सवके प्रति दयालु हैं : नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको । "मेरे स्वामी, मुझे अकेले मुक्ति नहीं चाहिये । मैं इन मूर्खों को जब तक मुक्त नहीं करा लूँगा तब तक नहीं जाऊँगा ।" इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण पतित जीवों को विना साथ लिये वैकुण्ठ जाना अस्वीकार कर दिया । वैष्णव ऐसे ही होते हैं । नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये-"मैं केवल उनको आपकी शरण ग्रहण करने की शिक्षा मात्र देना चाहता हूँ । मेरा लक्ष्य वस यही है ।"

इस प्रकार शरणागत होने पर बल दिया गया है क्योंकि वैष्णव जानते हैं कि जैसे ही वे शरण लेते हैं, आगे का मार्ग स्वतः खुल जाता है ।

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।

"किसी न किसी प्रकार उन्हें श्रीकृष्ण को प्रणाम करना है ।" यह अत्यधिक साधारण विधि है । मनुष्य को श्रीकृष्ण के सामने श्रद्धापूर्वक केवल नमस्कार करके यह निवेदन करना चाहिये, " मेरे श्यामसुन्दर, मैं इतने जन्म-जन्मान्तर तक आपको भूले हुआ था । अब मुझे आपका स्मरण आया है । कृपया मुझे स्वीकार कर लीजिये ।" वस इतना पर्याप्त है । यदि मनुष्य इस विधि को केवल सीख भर लेता है और निश्छलतापूर्वक भगवान् की शरण ग्रहण करता है तो उसकी प्रगति का मार्ग तत्काल ही खुल जाता है । सच्चे वैष्णव का लक्ष्य यही होता है ।

वैष्णव सदैव सोचते रहते हैं कि इन पतित जीवों का उद्धार कैसे हो सकता है और वे सदा इस विषय में योजनायें वनाते रहते हैं । भगवान् श्रीमन् गौरसुन्दर महाप्रभु के प्रधान शिष्य छः गोस्वामीवृन्द ऐसे ही वैष्णव थे । उनका वर्णन श्री श्रीनिवासाचार्य ने इस प्रकार किया है:।

नानाशास्त्रविचारणैकनिपुणौ सद्धर्मसंस्थापकौ
लोकानां हितकारिणौ त्रिभुवने मान्यौ शरण्याकरौ ।

राधाकृष्णपदारविन्दभजनानन्देनमत्तालिकौ
वन्दे रूपसनातनौ रघुयुगौ श्री जीवगोपालकौ ॥

"श्री सनातन गोस्वामी, श्री रूप गोस्वामी, श्री रघुनाथ भट्ट गोस्वामी, श्री रघुनाथ दास गोस्वामी, श्री जीव गोस्वामी तथा श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी—ये छः गोस्वामी सम्पूर्ण मानवों के हित के लिये, सनातन धर्म की स्थापना करने के उद्देश्य से विविध शास्त्रों का सूक्ष्म अध्ययन करने में अति निपुण हैं। वे सदैव गोपीभाव में निमग्न रहकर श्री श्री राधाकृष्ण की अप्राकृत प्रेममयी सेवा करते रहते हैं।"

ऐसी ही वैष्णवोचित करुणावश परीक्षित् महाराज ने शुकदेव गोस्वामी से कहा : "आपने विभिन्न प्रकार के नरकों का अभी वर्णन किया। अब कृपया इनसे उद्धार का भी उपाय बतलाइये।" अधुनेह महाभाग यथैव नरकान्नरः । नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥

नरः शब्द का अर्थ है मनुष्य। अर्थात् पतित जीव। नरकान्नरः नानोग्रयातनान्नेयात्तन्मे। कैसे ये प्राणी इन घोर यातना एवं कष्टों से मुक्त हो सकते हैं। वैष्णव-हृदय की विशेषता यही है। महाराज परीक्षित् ने यह भी कहा, "किसी प्रकार से ये नारकीय जीवन में फँस गये हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये प्राणी उसी दशा में पड़े रहें। उनकी मुक्ति का कोई न कोई उपाय अवश्य होगा, कृपया उन उपायों को समझाइये।" शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया :

न चेदिहैवापचितिं यथांहसः
कृतस्य कुर्यान्मनउक्तिपाणिभिः ।
ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति
ये कीर्तिता मे भवतस्तिग्मयातनाः ॥

"हाँ, मैं पूर्व ही इन घोर यातनापूर्ण विभिन्न नरकों का वर्णन

कर चुका हूँ। मुख्य बात यह है कि उन पापों से इसी जीवन में मुक्त होना पड़ेगा।" (भागवत ६.१.७)।

यह किस प्रकार किया जा सकता है? पाप करने के अनेक ढंग हैं। एक ढंग है मन से पाप करना। यदि मनुष्य कोई पाप करने के लिये सोचता है और फिर उसकी योजना बनाता है—"मैं उस व्यक्ति की हत्या करूँगा"—तो इसे भी पाप माना गया है। इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति के द्वारा कार्य होता है। अमेरिका के कुछ भागों में यह कानून हैं, कि यदि एक कुत्ता मार्ग में जाते हुये मनुष्य पर भोंकता है तो कुत्ते का स्वामी इसका उत्तरदायी है। यद्यपि कुत्ता केवल भोंकता है परन्तु उत्तरदायी स्वामी होता है। कुत्ते को उत्तरदायी नहीं माना जाता क्योंकि वह पशु है परन्तु कुत्ते के स्वामी ने उस पशु को अपना सर्वोत्तम मित्र बनाया है अतः कानून के द्वारा स्वामी उत्तरदायी है। जैसे एक कुत्ते का भोंकना कानून के विरुद्ध है, वैसे ही अपमानजनक वाक्य कहना भी पाप माना जा सकता है क्योंकि तब यह भोंकने के समान ही है। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि पाप अनेक प्रकार से किया जा सकता है—मन, वचन एवं तन के द्वारा मनुष्य पाप कर सकता है। ये तीनों ही ढंग पाप हैं। **ध्रुवं स वै प्रेत्य नरकानुपैति**—इन कार्यों के लिये दण्ड मिलना सुनिश्चित है।

लोग अगले जीवन में विश्वास नहीं करते क्योंकि वे कठिनाईयों तथा दण्ड से बचना चाहते हैं परन्तु अगला जन्म पाने से बचा नहीं जा सकता। सभी को यह भली-भाँति ज्ञात है कि यदि हम विधि-विधान (कानून) के अनुसार कर्म नहीं करेंगे तो हमको दण्ड मिलेगा ही। यदि अपराध किया जाता है तो शासन दण्ड अवश्य देगा। कभी-कभी अपराधी शासन के दण्ड से भले ही बच जाये परन्तु भगवान् के नियम से कोई नहीं बच सकता है। मनुष्य छलकर सकता है, चोरी कर के छिप सकता है तथा इस प्रकार शासन के

दण्ड से वच भी सकता है परन्तु वह प्रकृति के नियम–श्रेष्ठ नियम–से स्वयं को नहीं वचा सकता। यह कठिन है क्योंकि अनेक साक्षी (गवाह) हैं : दिन का प्रकाश साक्षी है, चन्द्रमा की किरणें साक्षी हैं और फिर सर्वोच्च साक्षी तो श्रीकृष्ण हैं ही। अतः हम यह नहीं कह सकते, "मेरे पाप को कोई नहीं देख सकता है।" भगवान् श्रीकृष्ण सबके हृदय में स्थित सर्वोच्च साक्षी हैं तथा न केवल वे हमारे चिन्तन एवं कार्यों को देखते हैं वरन् जीवों को ऐसी सुविधा भी देते हैं। यदि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को सन्तोष देने के लिये कुछ करना चाहता है तो श्रीकृष्ण सब सुविधा देते हैं। इसको भगवद्गीता में कहा गया है। **सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो**—"मैं ही सब प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ।" **मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**—"मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (विस्मृति) प्राप्त होता है।"

इस प्रकार श्रीकृष्ण हम सबको अवसर देते हैं। यदि हमें श्रीकृष्ण की कामना है तो वे हमें उनको प्राप्त करने का अवसर देंगे और यदि हम श्रीकृष्ण को नहीं पाना चाहते तो वे ही उनको भूल जाने का अवसर भी देंगे। यदि हम श्रीकृष्ण को भूलकर, भगवान् को भूलकर, जीवन का भोग करना चाहते हैं तो वे हमें ऐसी सब सुविधायें देंगे जिनसे हम उनको भूल सकें। परन्तु यदि हम श्रीकृष्ण-भावनामृत से युक्त जीवन के आनन्द में मग्न होना चाहते हैं, तब श्री कृष्ण हमें उस ओर प्रगति करने का अवसर देंगे। यह हम पर निर्भर करता है। यदि हम सोचते हैं कि हम श्रीकृष्णभावनामृत (कृष्ण-भक्ति) के विना ही सुखी हो सकते हैं तो श्रीकृष्ण को इस पर कोई आपत्ति नहीं है। **यथेच्छसि तथा कुरु**। अर्जुन को सलाह देने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने केवल यह कहा, "मैंने अब तुम्हें प्रत्येक वस्तु समझा दी है। तुम्हारी जो इच्छा हो वह कर सकते हो।" अर्जुन तत्काल उत्तर देते हैं, **करिष्ये वचनं तव**—"मैं अब आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।" यही कृष्ण-भक्ति है।

भगवान् हमारी अल्प स्वाधीनता में हस्तक्षेप नहीं करते। यदि हम उनकी आज्ञानुसार कर्म करना चाहते हैं तो वे हमारी सहायता करेंगे। कभी हमारा यदि पतन भी हो जाय परन्तु हम निष्कपट भाव से यह सोचें, "अब से मैं श्रीकृष्णभावनामृत में स्थित रहूँगा और भगवान् की आज्ञा-पालन करूँगा," तो श्रीकृष्ण हमारे सहायक होंगे। हमारा पतन हो जाने पर भी, पूर्ण रूप से क्षमा कर दिया जायेगा तथा सद्बुद्धि प्रदान की जायेगी। वह बुद्धि हमसे कहेगी, "इसको मत करो। अब अपना कर्त्तव्य पालन करने लगो।" परन्तु, यदि हम श्रीकृष्ण को भूलना चाहते हैं, उनके बिना सुखी होने की इच्छा रखते हैं तो भगवान् अनेक अवसर देंगे जो हमें जन्म-जन्मान्तर तक उनको भूलने में योग्य बनाये रखेंगे।

परीक्षित् महाराज ने कहा : "यह सत्य नहीं है कि भगवान् नहीं हैं या भगवान् नहीं होंगे या जो कुछ हम कर रहे हैं उसके उत्तरदायी हम नहीं हैं।" नास्तिक अपने पापों के कारण भगवान् को अस्वीकार करते हैं। यदि वे सोच लें कि भगवान् हैं तो उनको दण्ड के भय से कम्पन होने लगेगा; इसीलिये वे भगवान् के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर देते हैं। चूहों पर जब बड़े पशु आक्रमण करते हैं तो वे आँख बन्द कर सोचते रहते हैं, "मैं मरने वाला नहीं हूँ।" परन्तु वे हर प्रकार से मारे ही जाते हैं। उसी प्रकार भले ही हम भगवान् अथवा उनके नियमों को न मानें फिर भी भगवान् एवं उनके नियम वर्त्तमान हैं। उच्च न्यायालय में भले ही यह कहा जा सकता है, "मैं शासन के विधि-विधान (कानून) की परवाह नहीं करता," परन्तु शासन के विधि-विधान को स्वीकार करने के लिये हमें बाध्य किया जायेगा। यदि कोई राज्य के कानून को भंग करता है तो उसको कारागार (जेल) में डालकर दण्ड दिया जायेगा। उसी प्रकार मूर्खतावश हम भले ही भगवान् के अस्तित्व को विविध उपायों के द्वारा अस्वीकार करते रहें, ("भगवान् नहीं है") अथवा ("मैं भगवान् हूँ"), परन्तु अन्त में हम

अपने अच्छे एवं बुरे प्रत्येक कार्य के उत्तरदायी होंगे।

कर्म के अथवा शासन के नियमानुसार यदि हम उचित रूप से कार्य करें और पुण्य कर्म करें तो हमको सौभाग्य प्राप्त होगा। यदि हम पाप कर्म करेंगे तो हमको कष्ट उठाना पड़ेगा। अतएव शुकदेव गोस्वामी कहते हैं :

तस्मात्पुरैवाश्विह पापनिष्कृतौ
यतेत मृत्योरविपद्यताऽऽत्मना।
दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा
भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित्॥

"तुम्हें यह भली-भाँति ज्ञात रहे कि उत्तरदायी तुम हो और अपने पाप की गुरुता एवं लघुता के अनुसार मृत्यु के पूर्व शास्त्रों में वर्णित कोई न कोई प्रायश्चित्त तुम्हें अवश्य स्वीकार करना चाहिये। जिस प्रकार कुशल चिकित्सक रोगों का कारण और उनकी गम्भीरता के अनुसार तत्काल ही चिकित्सा कर डालता है।" (भागवत ६.१.८)

जिस प्रकार रोग होने से चिकित्सक (डॉक्टर) खोजा जाता है उसी प्रकार वैदिक जीवन के अनुसार पापों के प्रायश्चित्त के लिये ब्राह्मणों के एक विशेष वर्ग के पास जाना चाहिये। कई प्रकार के प्रायश्चित्त होते हैं। मनुष्य किये गये पाप को नष्ट करने के लिये जो तपस्या करता है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। क्रिश्चयनों (ईसाइयों) के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल में इसका उदाहरण है। श्रीशुकदेव कहते हैं कि पापों की गुरुता और लघुता के अनुसार मनुष्य को बताये गये प्रायश्चित्त करने पड़ते हैं। रोग की गम्भीरता के अनुसार चिकित्सक सस्ती अथवा महँगी औषधि (दवा) लिख सकता है। सिर दर्द के लिये वह ऐस्प्रो लिख दे परन्तु भयंकर रोग के लिये शल्य-चिकित्सा (ऑपरेशन) की सलाह दे सकता है जिसमें हजारों रुपये लग सकते हैं। उसी प्रकार पाप, रोग के समान होते हैं इसीलिये स्वस्थ होने के लिये मनुष्य को

निर्धारित चिकित्सा करानी चाहिये।

जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ने के कारण आत्मा रोगी अवस्था-स्वीकार करती है। आत्मा के ऊपर जन्म, मृत्यु अथवा रोग का प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यह शुद्ध है। श्रीमद्भगवद्गीता (२.२०) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मा का जन्म नहीं होता (**न जायते**) तथा इसका मरण भी नहीं है (**म्रियते**)।

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

"आत्मा किसी भी काल में न तो जन्मती है और न मरती ही है तथा एक बार होकर यह कभी नष्ट भी नहीं होती। यह अजन्मा, नित्य शाश्वत तथा पुरातन है। देह का वध होने पर आत्मा का वध नहीं होता।"

आधुनिक सभ्यता को एक ऐसी शिक्षण संस्था की घोर आवश्यकता है जो मृत्यु के पश्चात् क्या होता है, इस बात की शिक्षा लोगों को दे। वास्तव में वर्त्तमान शिक्षा की पद्धति अत्यधिक दोषपूर्ण है क्योंकि जब तक यह ज्ञान नहीं है कि मृत्यु के बाद क्या होता है तब तक मनुष्य पशुओं के समान ही मरता है। पशु को यह ज्ञात नहीं कि उसकी मृत्यु होने वाली है अथवा उसको दूसरा शरीर मिलने जा रहा है। किन्तु, मनुष्य जीवन को तो इससे अधिक उन्नत होना चाहिये। हमें आहार, निद्रा, भय (आत्म-रक्षा) एवं मैथुन जैसे पशुओं के कार्यों में ही केवल रुचि नहीं रखनी चाहिये। जीवों के पास आहार के लिये भले ही प्रचुर भोजन हो, सोने के लिये अनेक सुन्दर भवन हों, मैथुन के लिये उत्तम व्यवस्था हो अथवा आत्म-रक्षा के लिये पूर्ण प्रबन्ध हो, फिर भी इन सबका यह अर्थ नहीं कि वे मनुष्य हैं। उपर्युक्त कर्मों पर आधारित सभ्यता पशुओं की सभ्यता है। क्योंकि पशु

भी इन्हीं कर्मों में रुचि रखते हैं, इसलिये यदि मानव इनसे परे नहीं जाता फिर मनुष्य जीवन और पशु जीवन में अन्तर ही क्या रहा ?

अन्तर तभी हो सकता है जब मनुष्य को जिज्ञासा होती है, "मैं क्यों इस कष्टपूर्ण स्थिति में हूँ ? क्या इनसे बचा जा सकता है ? क्या कहीं शाश्वत (नित्य) जीवन है। मैं मरना नहीं चाहता और न ही कष्ट उठाना चाहता हूँ। मैं अत्यन्त सुखी एवं शान्तिपूर्ण जीवन चाहता हूँ। क्या इसको पाने का कोई अवसर है ? वह विधि अथवा विज्ञान क्या है जिसके द्वारा ऐसा जीवन प्राप्त किया जा सकता है ?" जब ये प्रश्न उठते हैं और इनका उत्तर पाने के लिये कदम उठाये जाते हैं तभी हमारी सभ्यता, मानव सभ्यता है। जहाँ ये प्रश्न पूछे ही नहीं जाते तो उसे पशुओं की सभ्यता माननी चाहिये। पशु और पशुओं के समान मनुष्य आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन की विधि को बनाये रखने में ही रुचि रखते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि उन्हें इन विधियों का त्याग करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। तथ्य तो यह है कि सच्ची आत्म-रक्षा की ही नहीं जा सकती क्योंकि कोई भी क्रूर मृत्यु के हाथों से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। उदाहरण के लिये हिरण्यकशिपु, जिसने अमर होने के लिये अत्यन्त कठोर तपस्या की परन्तु अन्त में भगवान् ने इसको असफल सिद्ध कर दिया। उन्होंने श्रीनृसिंहदेव के रूप में प्रकट होकर असुर हिरण्यकशिपु का अपने नखों से वध किया। नाम-मात्र के वैज्ञानिक आजकल दावा कर रहे हैं कि भविष्य में कभी न कभी हम वैज्ञानिक उपायों के द्वारा मृत्यु को रोक देंगे परन्तु यह घोषणा पागलपन की बकवास का एक और उदाहरण है। मृत्यु को रोकना सर्वथा असम्भव है। हम भले ही विज्ञान के क्षेत्र में अनेक महान् प्रगति कर लें परन्तु जन्म, मृत्यु, जरा (बुढ़ापा) और व्याधि (बीमारी) इन चार कष्टों का कोई भी वैज्ञानिक हल नहीं है।

जो बुद्धिमान् हैं उन्हें जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि इन चार प्रधान समस्याओं को हल करने के लिये अधीर रहना चाहिये। कोई

मरना नहीं चाहता परन्तु इसका हल नहीं है। सभी को मरना पड़ता है। सभी लोग गर्भपात की विधियों के द्वारा जनसंख्या की दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति को रोकने के लिये अत्यधिक उत्सुक हैं परन्तु जन्म हो रहे हैं। न मृत्यु को रोका जा सकता है और न ही जन्म को। उसी प्रकार औषधियों के क्षेत्र में नवीनतम आविष्कारों के द्वारा न व्याधि रुक सकती है और न ही वृद्धावस्था।

मनुष्य भले सोच सकता है कि उसने अपने जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं को सुलझा लिया है परन्तु जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि इन समस्याओं का हल कहाँ है? वह हल कृष्ण-भक्ति है। हममें से प्रत्येक अपना शरीर प्रतिपल त्याग रहा है और शरीर त्यागने का पथ मृत्यु कहलाता है। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं :

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

"हे अर्जुन ! मेरे जन्म एवं कर्म की दिव्य प्रकृति को जो मनुष्य तत्त्व से जान लेता है वह देह को त्यागकर संसार में फिर जन्म नहीं लेता वरन् मेरे सनातन धाम को ही प्राप्त हो जाता है।" (गीता ४.९)

ऐसे मनुष्य की क्या गति है ? **मामेति**—वह श्रीकृष्ण के समीप पुनः लौट आता है। यदि हमें श्रीकृष्ण के समीप जाना है तो हमें अप्राकृत शरीर के निर्माण की अवश्य तैयारी करनी पड़ेगी। वह तैयारी है कृष्ण-भक्ति का साधन। यदि हम स्वयं को श्रीकृष्णभावनामृत से युक्त रखते हैं तो शनैः-शनैः अपने अप्राकृत शरीर का निर्माण कर लेते हैं जो हमें तत्काल कृष्णलोक ले जाता है जहाँ हम सच्चिदानन्द जीवन की प्राप्ति कर नित्य वास करते हैं।

३

कृष्ण-प्रेम का अभ्यास

पाप के दोष के अनुपात में ही प्रायश्चित्त करना होता है। शास्त्रों का यही आदेश है। शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि यदि मृत्यु के पूर्व प्रायश्चित्त कर लिया जाता है तो अगले जीवन में मनुष्य का पतन नहीं होता। यदि वह प्रायश्चित्त नहीं करता तो वह साथ में अपने पापों का फल ले जाता है और उसको दुख भोगना पड़ता है। विधि-विधान के अनुसार यदि मनुष्य किसी की हत्या करता है तो उसको स्वयं भी मर जाना चाहिए। 'जीवन के वदले जीवन' की भावना नवीन नहीं है परन्तु इसे मानव जाति के वैदिक विधि-विधान ग्रन्थ मनु-संहिता में भी पाया जा सकता है। वहाँ कहा गया है कि राजा जब एक हत्यारे को फाँसी देता है तो वास्तव में इसमें हत्यारे का लाभ होता है क्योंकि यदि उसका वध नहीं किया जाता तो वह स्वयं के द्वारा की गई हत्या के वदले अनेक प्रकार के कष्ट भोगेगा।

प्रकृति के नियम अत्यन्त जटिल हैं एवं अत्यधिक बुद्धिमानी पूर्वक प्रयुक्त होते हैं यद्यपि लोगों को इस वात का ज्ञान नहीं। मनु-संहिता में जीवन के वदले जीवन की अनुमति दी गई है और वास्तव में सम्पूर्ण विश्व में इसका पालन भी किया जाता है। उसी प्रकार दूसरे नियम हैं जिनके अनुसार हम उत्तरदायित्व के विना एक चींटी

तक को भी नहीं मार सकते । क्योंकि हम सृष्टि नहीं कर सकते अतः किसी भी प्राणी को मारने का अधिकार हमें नहीं है । इस प्रकार एक मानव के वध में एवं एक पशु के वध में भेद रखने वाला मनुष्य-निर्मित नियम अपूर्ण है । यद्यपि मनुष्यों के द्वारा बनाये गये नियमों में अपूर्णता होती है परन्तु भगवान् के नियमों में कोई दोष नहीं रह सकता । भगवान् के नियम के अनुसार पशु-हत्या उतनी ही दण्डनीय है जितनी मनुष्य की हत्या । इनके मध्य भेद रखने वाले लोग अपने मनगढ़न्त नियम बनाया करते हैं । क्रिश्चयन लोगों के दस आदेशों में भी है, "तुम्हें हत्या नहीं करनी चाहिये ।" यह एक पूर्ण नियम है परन्तु भेद रखने वाले अटकलबाज इसे विकृत करते हैं । "मैं मनुष्य की हत्या नहीं परन्तु पशु की हत्या करूँगा ।" इस प्रकार लोग स्वयं को धोखा देकर अपने तथा दूसरों के कष्ट का कारण बनते हैं । किन्तु, भगवान् के नियम किसी भी दशा में ऐसे आचरण को क्षमा नहीं करेंगे ।

प्रत्येक जीव भगवान् की सृष्टि है, उसका शरीर अर्थात् वस्त्र भले ही भिन्न हो । भगवान् को सभी का परम पिता माना जाता है । एक पिता की कई सन्तान हो सकती हैं, कुछ बुद्धिमान् और कुछ कम बुद्धि वाली । अब यदि बुद्धिमान् पुत्र अपने पिता से कहे, "मेरा भाई बहुत बुद्धि वाला नहीं है इसलिये मुझे इसको मारने दीजिये ।" क्या पिता इससे सहमत होंगे ? एक पुत्र बुद्धिमान् नहीं है केवल इसीलिये भार कम करने की दृष्टि से दूसरा हत्या करना चाहता है, इस पर पिता कभी भी सहमत नहीं होंगे । उसी प्रकार यदि भगवान् परम पिता हैं तो वे पशुओं की हत्याकी अनुमति क्यों देंगे क्योंकि वे पशु भी तो उन्हीं के पुत्र हैं । श्रीमद् भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को घोषित करते हैं कि ८,४००,००० (चौरासी लाख) योनियोंके समस्त जीव उनकी सन्तान हैं । "मैं उनका बीजप्रदायक पिता हूँ," भगवान् कहते हैं । जिस प्रकार संसार में साधारणतया पिता बीज देता है और माँ भ्रूण को आवश्यक रक्त देकर शरीर का विकास करती है उसी प्रकार परम

पिता के भिन्न-अंश, जीवों का भगवान् के द्वारा प्रकृति में गर्भाधान कराया जाता है।

आत्मा का परिमाण अत्यधिक सूक्ष्म है। शास्त्रों में इसे केशाग्र केश (बाल) के अगले भाग का दस हजारवाँ अंश बताया गया है। हमारे लिये इतने छोटे बिन्दु को हजार भागों में बाँटने की कल्पना कर पाना भी कठिन है। दूसरे शब्दों में, यह इतनी सूक्ष्म है कि सर्वाधिक शक्तिशाली सूक्ष्म-दर्शी के द्वारा भी ग्रहण नहीं की जा सकती। इस प्रकार इस चित्कणका परिमाण इतना सूक्ष्म है कि हमारी भौतिक दृष्टि के लिये अदृश्य ही है। ये सब जानकारी शास्त्रों में दी गई है परन्तु उचित दृष्टि न होने के कारण हम देख नहीं सकते। यद्यपि हमारे भौतिक नेत्र आत्मा के परिमाण का अनुभव नहीं कर सकते फिर भी आत्मा शरीर के भीतर है और ज्यों ही वह इसे त्यागती है, कर्म के अनुसार वह दूसरा शरीर प्राप्त करती है।

हमें सदैव यह विचार करना चाहिये कि इन सब कार्यों के पीछे श्रेष्ठ अध्यक्षता (देखभाल) का हाथ है। जीव इस संसार में उसी प्रकार कार्य करता है जैसे एक कर्मचारी अपने कार्यालय में। और साथ ही जीव के कर्मों का विवरण भी रखा जाता है। जीव अपने से श्रेष्ठ सत्ता के विचार नहीं जानता परन्तु फिर भी उसकी सेवा का विवरण कार्यालय में रखा जाता है और कर्मों के अनुसार उसको पदोन्नति, वेतन में वृद्धि मिलती है तथा कभी-कभी पद से अवनति अथवा पद से उसको हटा भी दिया जा सकता है। उसी प्रकार हमारे सम्पूर्ण कार्यों के साक्षी हैं; अतएव शास्त्रों में कहा गया है कि जीव श्रेष्ठ सत्ता की देखरेख में हैं। कर्मों के अनुसार उनको पुरस्कार अथवा दण्ड मिलता है। अभी हमें मनुष्य शरीर, प्राप्त हुआ है परन्तु अगले जीवन में हो सकता है कि यह शरीर न मिले। इससे श्रेष्ठ अथवा निम्न प्रकार का शरीर मिल सकता है। जीव को किस प्रकार का शरीर मिलेगा इसका निश्चय दैव के द्वारा होता है। प्रायः लोगों को इस विज्ञान का पता

ही नहीं है कि आत्मा कैसे एक देह से दूसरी देह में जाती है।

आत्मा एक जीवन के अन्तर्गत भी, शरीर के परिवर्तन के अनुसार भ्रमण करती है। माँ के गर्भ में जब पहली बार शरीर प्रकट होता है तब यह मटर के दाने के समान रहता है और धीरे-धीरे इसमें नौ छिद्र (छेद) विकसित होते हैं— दो नेत्र, दो कान, दो नाक के छेद, एक मुख, एक जननेन्द्रिय एवं एक गुदा-द्वार। इस प्रकार शरीर का विकास होता है और आवश्यक विकास तक वह माँ के गर्भ में रहता है। जब बाहर आने के लिये उसका पर्याप्त विकास हो जाता है तब शरीर बाहर निकलकर बढ़ने लगता है। वृद्धि का अर्थ है शरीर में परिवर्तन होना। इस परिवर्तन को समझा नहीं जा सकता क्योंकि यह जीव के द्वारा ग्राह्य नहीं है। बाल्यावस्था का हमारा छोटा सा शरीर अब वर्त्तमान नहीं है; इसलिये यह कहा जा सकता है कि हमने अपना शरीर बदल लिया है। उसी प्रकार भौतिक वस्तुओं की प्रकृति के कारण, जब यह देह कार्य करना समाप्त कर देती है तब हमको इसे बदलना पड़ता है। प्रत्येक भौतिक वस्तु क्षीण होती है। एक भग्न यन्त्र या पुराने वस्त्र के समान एक निश्चित समय के बाद यह शरीर भी व्यर्थ हो जाता है।

यद्यपि यह वृद्धि सदैव ही होती रहती है परन्तु दुर्भाग्यवश विश्वविद्यालयों की उन्नत मानी जाने वाली शिक्षा-पद्धति के, विज्ञान का इस क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में, आध्यात्मिक ज्ञान के बिना कोई शिक्षा हो ही नहीं सकती। औपचारिक शिक्षा लिये बिना भी मनुष्य जीविका कमाना, आहार करना, निद्रा लेना एवं मैथुन करना सीख सकता है। पशु शिक्षित नहीं होते—न वे तकनीकी विशेषज्ञ हैं और न ही उनके पास विश्वविद्यालय की उपाधि (डिग्री) है—फिर भी वे आहार, निद्रा, आत्म-रक्षा एवं मैथुन में संलग्न रह सकते हैं। यदि शिक्षा-पद्धति केवल इन्हीं विधियों को सिखाती है तो 'शिक्षा' कहलाने के योग्य नहीं। यथार्थ शिक्षा से यह ज्ञान प्राप्त होता

है कि हम कौन हैं। जब तक मनुष्य स्वरूप-तत्त्व के ज्ञान के द्वारा अपनी चेतना का विकास नहीं करता तब तक उसके सारे कर्म तमो-गुण (अज्ञानता) में होते हैं। प्रकृति के नियमो पर विजय पाने के लिये मनुष्य-जीवन बना है। वास्तव में हम सभी प्रकृति के आघात को निष्फल बनाने में विजय प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि इनको जीतना ही परम विजय है परन्तु हमने इस महत्वपूर्ण विषय की उपेक्षा कर दी है।

यदि हमारी शिक्षा-व्यवस्था भगवान् के द्वारा दी गई वस्तुओं का सदुपयोग करे तो इसकी उन्नति होगी। हमारे द्वारा खाये गये सभी अन्न तथा फल भगवान् ने दिये हैं जो सम्पूर्ण जीवों को ही भोजन प्रदान कर रहे हैं। श्रीमद्भागवत (१.१३.४६)में आता है, **जीवो जीवस्य जीवनम्**, "एक जीव दूसरे जीव का भोजन है।" बिना हाथ के पशु हमारे जैसे हाथ वाले पशुओं के भोजन हैं। बिना पैर वाले पशु चौपाये पशुओं के भोजन हैं। घास जीव है परन्तु चलने के लिये इसके पैर नहीं हैं और इस प्रकार वह गाय एवं अन्य पशुओं द्वारा खाई जाती है। ऐसे अचल प्राणी चलने वाले जीवों के भोजन हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में शोषणकारी तथा शोषित वर्गों के मध्य निरन्तर संघर्ष होता रहता है। निर्बल का बलवान् के द्वारा शोषण होना यह प्रकृति का नियम है। प्रथा के अनुसार वैष्णव अर्थात् भगवान् के भक्त मांस नहीं खाते हैं। ऐसा केवल शाकाहारी बनने के लिये नहीं वरन् भग-वद्-भावना में प्रगति करने के लिये किया जाता है। भगवद्-भक्त बनने के लिये मनुष्य को कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक है। निःसन्देह हमको भोजन करना पड़ेगा परन्तु मुख्य बात तो यह है कि हम श्रीकृष्ण को समर्पित भोजन का अवशेष अर्थात् कृष्ण-प्रसाद ही ग्रहण करें। भगवद्गीता (९.२६) का दर्शन भी यही है जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।

"भक्त प्रेम एवं स्नेह से पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे को अर्पण करता है, उसे मैं प्रीति सहित स्वीकार करता हूँ ।"

ऐसा नहीं है कि श्रीकृष्ण भूखे हैं और हमसे भोजन की भिक्षा माँग रहे हैं। इस समर्पण का उद्देश्य,प्रेम तथा स्नेह की भावना उत्पन्न करना है । श्रीकृष्ण प्रेम-व्यवहार चाहते हैं, "तुम मुझसे प्रेम करो, मैं तुमको प्रेम करूँगा ।" भगवान् होने के कारण श्रीकृष्ण की शक्ति, प्रत्येक वस्तु की सृष्टि एवं पालन करती है अतः उनको हम लोगों से पत्र, फल तथा जल आदि की भिक्षा माँगने की आवश्यकता ही क्या है ? "हे माधव, मैं इतना निर्धन हूँ कि आपको कुछ नहीं दे सकता । मैंने यह फल एवं पत्र प्राप्त किये हैं, कृपया इन्हें स्वीकर कर लीजिये ।" यह प्रार्थना करते हुये यदि हम श्रीकृष्ण को प्रेम के साथ फल, पत्र एवं जल अर्पित करें तो वे अत्यधिक प्रसन्न होते हैं । इस प्रकार का समर्पण श्रीकृष्ण को अत्यन्त आनन्द देता है । हमारे द्वारा अर्पित वस्तुओं को यदि वे ग्रहण कर लें तो हमारा जीवन धन्य हो जायेगा क्योंकि वास्तव में हम तभी श्रीकृष्ण के सखा बनेंगे । व्यवहारिक रूप से संसार के किसी भी कोने में निर्धन अथवा धनी, किसी के भी द्वारा फल, पुष्प तथा जल प्राप्त कर भगवान् को अर्पित किया जा सकता है । हमें यह ध्यान रहे, शाकाहारी बन जाना महत्वपूर्ण नहीं है और न ही भगवान् को किसी भी वस्तु की आवश्यकता है । महत्व की बात तो केवल यह सीखना है कि कैसे श्रीकृष्ण से प्रेम किया जाये ।

प्रेम आदान-प्रदान से आरम्भ होता है । अपने प्रेमी को हम कुछ देते हैं और वह हमको कुछ देता है तथा इस प्रकार प्रेम बढ़ता है । जब भी हम किसी युवक या युवती, स्त्री अथवा पुरुष के साथ प्रेम करना चाहते हैं तो आदान-प्रदान किया जाता है । इस प्रकार श्रीकृष्ण हमको आदान-प्रदान करने की शिक्षा दे रहे हैं । श्रीकृष्ण आग्रह कर

रहे हैं, "मुझे प्रेम करने का प्रयत्न करो। यह सीखो मुझसे कैसे प्रेम किया जाता है। मुझको कुछ अर्पण करो।"

"प्रभो," हम कहते हैं, "आपको देने के लिये मेरे पास कुछ भी नहीं है।"

"अरे, क्या तुम फल का एक टुकड़ा, पुष्प, पत्र या थोड़ा सा जल तक भी एकत्र नहीं कर सकते हो।"

"क्यों नहीं ? यह तो कोई भी एकत्र कर सकता है ?"

तो कृष्ण-भक्ति की यह विधि है जिसके द्वारा मनुष्य श्रीकृष्ण का मित्र वन सकता है। हम श्रीकृष्ण के साथ अनेक सम्वन्ध स्थापित कर सकते हैं। हम श्रीकृष्ण के साक्षात् दास हो सकते हैं अथवा और अधिक उन्नत स्थितियों में हम श्रीकृष्ण के माता-पिता या प्रेमी हो सकते हैं। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जीव मात्र से प्रेममय सम्वन्ध स्थापित करने के लिये तैयार हैं। वास्तविकता तो यह है कि सम्बन्ध पहले से है ही क्योंकि वे परम पिता हैं और हम सब उनके भिन्न-अंश हैं। पुत्र पिता की देह का अंश है इसलिये उनका सम्बन्ध टूट नहीं सकता; कुछ समय के लिये इसको भूला जा सकता है परन्तु ज्यों ही मनुष्य अपने पिता या पुत्र को पहचान लेता है उनमें तत्काल स्नेह उत्पन्न हो जाता है। उसी प्रकार हम श्रीकृष्ण से नित्य सम्वन्धित हैं परन्तु वर्त्तमान समय में वह सम्बन्ध केवल ढँक गया है अथवा भुला दिया गया है। फलस्वरूप, हम सोचा करते हैं कि हमारा श्रीकृष्ण के साथ कोई सम्वन्ध नहीं है परन्तु यह वास्तविकता नहीं है। क्योंकि हम उनसे अभिन्न हैं, क्योंकि उनके हम भिन्न-अंश हैं अतः उनके साथ हमारा सम्बन्ध नित्य है। इस सम्वन्ध को केवल जाग्रत भर करना है और जाग्रति की विधि, कृष्ण-भक्ति का साधन करना है।

वर्त्तमान में हम विभिन्न प्रकार की चेतना के अधीन हैं। कोई सोच रहा है कि वह भारतीय है, दूसरा सोचता है कि वह अमेरिकन है अन्य तीसरा कुछ और सोच रहा है, "मैं यह हूँ," अथवा "मैं वह हूँ।" इस प्रकार हम अनेक कृत्रिम उपाधियों का निर्माण कर लेते हैं।

परन्तु हमारा वास्तविक स्वरूप होना चाहिये, "मैं श्रीकृष्ण का हूँ।" जब हम इस ढंग से सोचा करते हैं तब हमारा चिन्तन श्रीकृष्णभावनामय है, केवल इसी विधि से सब जीवों में विश्व-व्यापी प्रेम की स्थापना की जा सकती है। श्रीकृष्ण प्रत्येक से शाश्वत पिता के रूप में सम्बन्धित हैं और फलस्वरूप, जब हम कृष्ण भावित सम्बन्ध स्थापित करते हैं तब प्रत्येक के साथ हमारा सम्बन्ध स्वतः हो जाता है। जब मनुष्य विवाह करता है तो अपने आप उसका सम्बन्ध दूसरे पक्ष के परिवार के सदस्यों से हो जाता है। उसी प्रकार जब हम श्रीकृष्ण के साथ अपने मौलिक सम्बन्ध को पुनः स्थापित कर लेंगे, तब प्रत्येक के साथ वास्तविक रूप में सम्बन्धित हो जायेंगे। विश्व-व्यापी प्रेम का आधार यही है। जब तक हम केन्द्र-बिन्दु के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर लेते तब तक हमारा विश्व-प्रेम कृत्रिम है और बहुत समय तक वर्त्तमान नहीं रह सकता। अमेरिका में जन्म लेने वाला अमेरिकन है और इसलिये दूसरे अमेरिकन उसके परिवार के सदस्य बन जाते हैं। परन्तु यदि उसी मनुष्य का जन्म कहीं और हुआ हो तो उसका अमेरिकनों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। सांसारिक स्तर पर सभी सम्बन्ध सापेक्ष हैं। किन्तु श्रीकृष्ण के साथ हमारा सम्बन्ध नित्य है और देश, काल तथा परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता। जब हम श्रीकृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को फिर से स्थापित करेंगे तभी विश्व-व्यापी भाई-चारे की भावना, न्याय, शान्ति एवं समृद्धि की समस्याओं का हल निकलेगा। श्रीकृष्ण के बिना इन उच्च सिद्धान्तों के पालन की कोई सम्भावना ही नहीं है। जब केन्द्र-बिन्दु का पता नहीं है तब भाई-भाई होने का तथा शान्ति स्थापित करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

श्रीमद्भगवद्गीता में शान्ति का सूत्र स्पष्ट दिया गया है। हमें यह समझ लेना है कि भोक्ता (आनन्द उठाने वाले) केवल श्रीकृष्ण ही हैं। ऐसी भावना का विकास कृष्ण भावित मन्दिर में किया जा सकता है जहाँ समस्त कार्यों के केन्द्र श्रीकृष्ण हैं। वहाँ विविध पक्र-

वान अपने लिये नहीं वरन् श्रीकृष्ण के लिये बनाये जाते हैं। अन्त में हम प्रसाद (श्रीकृष्ण को समर्पित भोजन) ग्रहण करेंगे परन्तु पकाते समय हम यह चिन्तन करें कि हम श्रीकृष्ण के लिये पका रहे हैं स्वयं के लिये नहीं। जब मन्दिर के सदस्य-भक्त मार्ग (सड़क) में जाते हैं तो यह कार्य अपने लिये नहीं वरन् कृष्ण-भक्ति के साहित्य का वितरण करने के लिये करते हैं जिससे लोगों को श्रीकृष्ण की उपस्थिति का आभास हो सके। प्राप्त हुआ धन श्रीकृष्ण के सन्देश का विविध प्रकार से विस्तार करने के लिये श्रीकृष्ण के ही लिये व्यय किया जाता है। जीवन की यह कला जहाँ प्रत्येक वस्तु का उपयोग श्रीकृष्ण के लिये किया जाता है, जीव में कृष्ण-भक्ति का विकास करने में सहायक होती है। हमारे कर्म भले ही वही बने रहें; परन्तु समझना केवल यह है कि हम अपने सन्तोष के लिये नहीं अपितु श्रीकृष्ण के लिये कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार हम अपनी मौलिक चेतना प्राप्त कर सुखी हो सकते हैं। हमारी मौलिक चेतना श्रीकृष्णभावनामृत है और जब तक हम इसे प्राप्त नहीं करते तब तक किसी न किसी अंश में हम पागल बने ही रहेंगे। जो भी कृष्ण-भक्त नहीं है उसे उन्मत्त (पागल) माना जाता है क्योंकि उसके कर्म का स्तर अस्थायी एवं अस्थिर है। जीव नित्य है इसलिये अस्थायी कार्यों से हमारा सम्बन्ध नहीं है। हमारे कर्म शाश्वत होने चाहिये क्योंकि हम नित्य हैं और वह शाश्वत कार्य है श्रीकृष्ण की भक्ति (प्रेममयी सेवा)।

श्रीकृष्ण परम नित्य हैं और हम सब अधीनस्थ नित्य हैं। श्रीकृष्ण परम पुरुष हैं तथा हम अधीनस्थ जीव हैं। हाथ की उंगुली सम्पूर्ण शरीर का अंश है और उसका शाश्वत कर्म शरीर की सेवा करना है। वास्तव में उंगुली का उद्देश्य यही है और यदि वह सम्पूर्ण शरीर की सेवा नहीं कर सकती तो वह रोगी है अथवा अनुपयोगी। उसी प्रकार श्रीकृष्ण के भिन्न अंग होने के कारण हमें श्रीकृष्ण की सेवा करना है एवं उनके अधीन-रहना है क्योंकि परम पिता

के रूप में वे हमारी समस्त आवश्यकताओं को पूर्ण कर रहे हैं। श्री कृष्ण की अधीनता में रहना सामान्य जीवन है और वास्तविक मुक्ति का जीवन है। जो श्रीकृष्ण को अस्वीकार करते हैं तथा उनसे बिना सम्बन्धित हुये रहना चाहते हैं वे यथार्थ में पापमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

शुकदेव गोस्वामी और महाराज परीक्षित् ने इस विषय पर चर्चा की एवं महाराज परीक्षित् यह जानने के लिये उत्सुक थे कि कैसे ये वद्ध जीव नरक के जीवन से वचाये जा सकते हैं। दुखी मानवता की रक्षा वैष्णवों की स्वाभाविक कामना रहती है। प्रायः दूसरे लोग यह परवाह नहीं करते कि लोग कष्ट पा रहे हों या नहीं परन्तु वैष्णव अर्थात् भगवान् के भक्त सदैव चिन्तन करते रहते हैं, किस प्रकार पतित जीवों का उद्धार किया जाय। क्रिश्चयन विश्वास करते हैं कि जीजस क्राइस्ट ने क्रॉस पर चढ़ने के द्वारा विश्व के सम्पूर्ण लोगों का पाप अपने ऊपर ले लिया है। भगवान् के भक्त सदैव यही सोचते रहते हैं कि दूसरों की पीड़ा कैसे दूर की जाये। भगवान् श्रीमन् गौरांग महाप्रभु के पार्षद श्री वासुदेव दत्त ऐसे ही एक भक्त थे। उन्होंने श्रीमन् महाप्रभु से कहा, "अभी आप स्वयं प्रकट हुये हैं अतः दया करके पृथ्वी के सम्पूर्ण जीवों का उद्धार कर, उनको वैकुण्ठ में ले चलिये। यदि आप सोचें कि ये लोग इतने पापी हैं कि इनका उद्धार नहीं हो सकता तब कृपया इनके पापों का फल मुझको दे दीजिये। मैं इनके स्थान पर कष्ट सह लूंगा।" यह है एक वैष्णव की करुणा। किन्तु, ऐसा नहीं होना चाहिये कि जीजस क्राइस्ट अथवा वासुदेव दत्त हमारे पापों को दूर करने के लिये समझौता करें और हम दूसरी ओर पाप करते रहें—यह एक अत्यन्त घृणित प्रस्ताव है। वैष्णव अथवा भक्तजन पूरी मानवता के लिये कष्ट सहन कर सकते हैं परन्तु मानव जाति को, विशेषकर इन भक्तों के शिष्यों को इस सुविधा का लाभ उठाकर पाप नहीं करते रहना चाहिये।

ऐसा करने के स्थान पर, हमें यह अनुभव करना चाहिये कि जीजस क्राइस्ट या वासुदेवदत्त ने हमारे लिये इतने कष्ट उठाये हैं इसलिये हमें पाप बन्द कर देने चाहिये।

वास्तव में प्रत्येक अपने पापों का स्वयं ही उत्तरदायी होता है। इसलिये शुकदेव गोस्वामी की सलाह है, **तस्मात्पुरैवाश्विह पाप-निष्कृतौ:**—पापों के फल से बचने के लिये मनुष्य को मृत्यु के पूर्व ही प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। **यतेत मृत्योरविपद्यताऽऽत्मना। दोषस्य दृष्ट्वा गुरुलाघवं यथा भिषक् चिकित्सेत रुजां निदानवित्॥** मनुष्य को पापों की गुरुता या लघुता के अनुसार प्रायश्चित्त करना चाहिये। जैसे पहले वर्णन हुआ है कि विभिन्न पापों के लिये पृथक्-पृथक् प्रायश्चित्त होते हैं। किसी भी स्थिति में, मृत्यु होने से पूर्व मनुष्य को प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये जिससे वह अगले जीवन में पाप साथ न ले जाय और इनके लिये उसको कष्ट सहन न करना पड़े। यदि अपने पापों के लिये हम किसी प्रकार का प्रायश्चित्त नहीं करते तो प्रकृति हमको क्षमा नहीं करेगी। अगले जीवन में हमें पापों का फल भुगतना पड़ेगा। सांसारिक कार्यों का यह बन्धन **कर्म-बन्धन** कहलाता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

"श्री विष्णु के लिये यज्ञ रूप में कर्म करना अनिवार्य है, अन्यथा इस संसार में कर्मबन्धन होता है। इसलिये हे कौन्तेय! श्रीविष्णु की प्रसन्नता के लिये कर्म करो। इस प्रकार करने से तुम नित्य अनासक्त तथा बन्धन मुक्त रहोगे।" (गीता ३. ९)

मनुष्य मांस खाने का सुख-भोग करने के लिये पशु की हत्या भले ही कर सकता है परन्तु ऐसे कर्मों से वह बँध जायेगा। इस प्रकार वह अगले जीवन में गाय अथवा बकरी बनेगा और गाय या बकरी मनुष्य बनकर उसका आहार करेगी। यह वैदिक कथन है, हम इस पर विश्वास करें या न करें। दुर्भाग्य से, वर्तमान में लोगों को

शिक्षा ही इस ढंग से दी जा रही है कि वे अगले जीवन में विश्वास नहीं करते। वास्तव में लगता तो यही है कि अधिक "शिक्षित" बनने का अर्थ है भगवान् में, भगवान् के नियमों में, अगले जीवन में और पाप एवं पुण्य कार्यों में कम विश्वास करना। इस प्रकार आधुनिक शिक्षा मनुष्य को केवल पशु बनने के लिये तैयार करती है। यदि मानव को यह सीखने की शिक्षा नहीं दी जाती कि वह कौन है, अर्थात् वह यह शरीर है या कुछ और तब तक उसका अस्तित्व एक खर (गधे) से श्रेष्ठ नहीं है। एक गधा भी सोचता है, "मैं यह देह हूँ," और यही दूसरे पशु भी सोचते हैं। तो यदि मनुष्य भी यही सोचे तो उसमें एवं अन्य पशुओं में अन्तर ही क्या रहा ? श्रीमद्भागवत (१०.८४.१३) कहती है :

> यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
> स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
> यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
> ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

"जो मनुष्य तीन धातुओं से बने इस शरीर को आत्मा मानता है, जिसकी स्त्री-पुत्र से घनिष्ट शारीरिक सम्बन्ध रखने में प्रीति रहती है, जो अपनी भूमि को पूजनीय समझता है और जो तीर्थों के जल को स्वीकार करता है परन्तु वहाँ वास करने वाले सन्तों के ज्ञान का लाभ नहीं उठाता उस मनुष्य को भ्रम में माना जाता है एवं वह एक गौ अथवा खर से श्रेष्ठ नहीं है।" आयुर्वेद के अनुसार यह भौतिक शरीर कफ, पित्त और वात (वायु) इन तीन धातुओं से बना हुआ है। शरीर के भीतर जटिल यन्त्र (मशीनें) भोजन को द्रव में बदलते हैं। अनेक प्रकार की जटिल क्रियायें हो रही हैं परन्तु हम उनके विषय में जानते ही क्या हैं ? हम कहा करते हैं, "यह मेरा शरीर है," परन्तु इस शरीर के विषय में हमें पता क्या है? कुछ लोग तो यह दावा भी करते हैं, "मैं भगवान् हूँ," परन्तु उनको इतना भी नहीं

ज्ञात है कि उनके अपने शरीर के ही भीतर क्या हो रहा है।

शरीर मल, मूत्र, रक्त एवं हड्डियों का एक झोला है। अब यदि कोई सोचे कि मल, मूत्र, रक्त और हड्डियों से बुद्धि प्राप्त होती है तो वह मूर्ख है। क्या हम मल, मूत्र, रक्त तथा हड्डियों को मिलाकर बुद्धि का निर्माण कर सकते हैं ? फिर भी लोग सोचा यही करते हैं, "मैं यह देह हूँ।" इसलिये शास्त्र कहते हैं, जो इस शरीर को आत्मा 'मैं' मानता है और शरीर से सम्बन्धित पत्नी, पुत्र तथा परिवार को अपना समझता है वह भ्रम में है। **कलत्र** का अर्थ पत्नी एवं **आदि** का अर्थ है आरम्भ। पुरुष अकेलेपन के कारण पत्नी स्वीकार करता है और तत्काल पुत्र-प्रपौत्र होने लगते हैं। इस प्रकार विस्तार होता है। स्त्री का अर्थ है, "जो विस्तार करती है," तो **कलत्रादिषु** का अर्थ हुआ पत्नी के द्वारा "स्वयं का विस्तार।" **भौम** शब्द जन्म भूमि दर्शाता है जिसे अज्ञानी पूजनीय मानते हैं **इज्यधीः** लोग अपनी जन्मभूमि के लिये प्राण त्यागने को तैयार रहते हैं परन्तु वे नहीं जानते कि भूमि, पत्नी, पुत्र, देश तथा समाज इत्यादि से वास्तव में हमको कुछ लेना-देना नहीं। हम लोग आत्मा हैं (**अहं ब्रह्मास्मि**)। ज्ञान का यह साक्षात्कार है और जब हम इस अवस्था पर पहुँच जाते हैं तब हम सुखी होते हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। वह न शोक करता है और न ही इच्छा करता है; सब प्राणियों में वह समभाव रखता है। इस अवस्था में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।" (गीता १८.५४) इसका ज्ञान होते ही कि "मैं आत्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, मैं यह पदार्थ नहीं हूँ" मनुष्य तत्काल ही प्रसन्न हो जाता है, **प्रसन्नात्मा**। इस प्रसन्नता का चिह्न है कि मनुष्य शोक या कामना का अनुभव नहीं करता। संसार में सभी खो जाने वाली वस्तु के लिये

शोक और प्राप्ति की कामना करते हैं परन्तु सच्चा लाभ आत्मा को समझकर स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में ही है।

जब तक हम देहात्म-बुद्धि बनाये रखेंगे तब तक हमें प्रकृति के नियमों के साथ ही साथ देश के तथा और भी कई नियमों का पालन करना पड़ेगा। इसीलिये देह को बद्ध कहा जाता है अर्थात् इसको अनेक प्रकार की अवस्थायें (बन्धन) स्वीकार करनी पड़ती हैं। विविध अवस्थायें हैं और हम किसी भी अवस्था में रहें उसके उत्तरदायी हम हैं। यदि हम इस शरीर के रहते हुये अपने पापों का प्रायश्चित्त नहीं करते तो हमें अपने अगले शरीर में कष्ट उठाना पड़ेगा क्योंकि कर्म के अनुसार ही हमें अगला शरीर मिलेगा (**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्**—गीता ८.६) यह प्रकृति का नियम है। अतः शुकदेव गोस्वामी सलाह देते हैं कि पाप की गुरुता और लघुता के अनुसार मनुष्य प्रायश्चित्त करे। शास्त्रों में वर्णन की गई प्रायश्चित्त विधियों का पालन आवश्यक है अन्यथा बचाव नहीं है।

परीक्षित् महाराज अत्यन्त बुद्धिमान् थे उन्होंने कहा, "प्रायश्चित्त के द्वारा मनुष्य पापों से मुक्त हो सकता है, जैसे एक हत्यारे का वध करने से उसके द्वारा की गई हत्या का पाप नष्ट हो जाता है परन्तु इसकी गारण्टी नहीं कि वह अपने अगले जीवन में फिर से हत्या नहीं करेगा।" इस प्रकार परीक्षित् महाराज ने विचार किया कि प्रायश्चित्त करने के पश्चात् लोग वही पाप पुनः करते हैं। रोगी को चिकित्सक दवा देकर भले ही अच्छा कर ले परन्तु यह गारण्टी नहीं कि उस मनुष्य को वह रोग फिर से नहीं होगा। गुप्त रोगों की चिकित्सा किये जाने पर भी वे रोग बारम्बार होते हैं तथा चोर कारागार (जेल) में अनेक बार रहने पर भी पुनः-पुनः चोरी करता रहता है, ऐसा क्यों होता है? इसलिये परीक्षित् महाराज ने विचार किया कि पहले किये गये पापों को नष्ट करने में प्रायश्चित्त भले ही अच्छा हो सकता है परन्तु यह उन पापों को पुनः करने

से नहीं रोकता। सभी लोग देख सकते हैं कि हत्यारे को दण्ड मिलता है परन्तु हत्या करने से बचने के लिये, यह देखना मात्र ही पर्याप्त नहीं है। प्रत्येक शास्त्र एवं कानून के ग्रन्थों में मनुष्य को हत्या नहीं करने के लिये सचेत किया गया है फिर भी किसी को इन नियमों की थोड़ी सी भी चिन्ता नहीं है। इसका निराकरण (हल)क्या है? **दृष्टश्रुताभ्यां यत्पापं।** व्यवहारिक अनुभव से और अधिकारियों से सुनने के द्वारा सबको पता है कि पाप क्या होता है तथा कोई यह नहीं कह सकता, "मैं नहीं जानता कि पाप क्या है।" उस प्रायश्चित्त का मूल्य ही क्या रहा यदि हम प्रायश्चित्त करने के बाद वही पाप फिर करते हैं? **क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति तत्पुनः। प्रायश्चित्तमतोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत् ॥** (भागवत ६.१.१०) जब किसी को दण्ड मिलता है तो वह सोचता है, "अरे मैंने कितनी बड़ी त्रुटि की। अब मैं यह पाप फिर कभी नहीं करूँगा।" परन्तु ज्यों ही वह संकट से बाहर हुआ नहीं कि वह मनुष्य तत्काल वही पाप पुनः करता है।

व्यसन एक प्रकार का स्वभाव ही है। उसे छोड़ना अत्यधिक कठिन है। **श्वान यदि क्रियते राजा। तत्किं नाशान्त्योपानहम्** (हितोपदेश)। एक स्वान् (कुत्ते) को भले ही राजसिंहासन पर बैठा दिया जाये परन्तु ज्यों ही वह जूता देखेगा तत्काल नीचे कूदकर उसके पीछे दौड़ेगा क्योंकि आखिर है तो वह एक कुत्ता ही। कुत्ते के गुण केवल उसे सिंहासन पर बैठा देने भर से नहीं बदले जा सकते। उसी प्रकार प्रकृति के तीन गुण—सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण—के संग के द्वारा हमने भौतिक गुणों को प्राप्त किया है। इन्हीं तीन गुणों के संग से हमारी आदतें बना करती हैं। किन्तु, हम स्वयं को यदि प्रकृति के इन तीन गुणों से पृथक् कर लें तो हमारे वास्तविक आध्यात्मिक स्वरूप की जाग्रति हो जाती है। वह विधि है कृष्ण-भक्ति। जब मनुष्य कृष्ण-भक्त बन जाता है तब प्रकृति के गुणों के संग की कोई सम्भावना नहीं रहती और श्रीकृष्ण की स्फूर्ति होने से अपने आप ही हमारा

आध्यात्मिक स्वरूप जाग्रत हो उठता है। यह एक रहस्य है। जो कृष्ण-भक्ति का साधन करते हैं वे उस स्तर पर आरूढ़ रहने में समर्थ हो जाते हैं, जहाँ कोई भी भौतिक कलुष नहीं रहता। यद्यपि पहले उनमें अनेक अनर्थ थे परन्तु केवल श्रीकृष्णभावनामृत के साधन से ही उनको गुणातीत अवस्था की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार कृष्ण-भक्ति एक अत्यन्त उत्तम औषधि है। जब तक मनुष्य को श्रीकृष्ण की स्फूर्ति नहीं होती तब तक उसमें प्रकृति के तीन गुणों के संग के प्रभाव से निर्मित व्यसन बने रहते हैं। इस प्रकार वह इन व्यसनों को परिवर्तित नहीं कर सकता। यदि हमको वास्तव में जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होना है तो हमें कृष्ण-भक्ति का आश्रय ग्रहण करना ही पड़ेगा। श्रीमद्भगवद्गीता (१४.२६) में भगवान् श्रीकृष्ण के वचनामृत हैं :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो मनुष्य पूर्ण रूप से अव्यभिचारिणी भक्ति के परायण है, उसका किसी भी अवस्था में पतन नहीं होता तथा वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया से परे होकर ब्रह्मभूत हो जाता है।"

कृष्ण-भक्ति की विधि, यह प्रायश्चित्त अथवा वह प्रायश्चित्त करने का अनुमोदन नहीं करती। मनुष्य प्रायश्चित्त करके देख ले परन्तु आत्मा के रोग तब तक वर्त्तमान बने ही रहेंगे जब तक हम प्रेमा-भक्ति (सेवा) के स्तर पर नहीं आते। हमारा जीवन उसी अवस्था में शुद्ध हो सकेगा।

४

तपस्या का अभ्यास

यदि हम कृष्ण-भक्ति के स्तर तक नहीं आते हैं तो सम्भव है कि अल्प समय के लिये पापों के फल से मुक्ति मिल जाये परन्तु हम पुनः पाप में प्रवृत्त हो जायेंगे। अतएव परीक्षित् महाराज ने कहा : **क्वचिन्निवर्तते ऽभद्रात्क्वचिच्चरति तत्पुनः। प्रायश्चित्तमतोऽपार्थं**, "बारम्बार पाप करके बारम्बार प्रायश्चित्त करना मुझे समय व्यर्थ करना ही प्रतीत होता है।" उन्होंने हाथी का उदाहरण दिया जो अपने शरीर को झील या तालाब में अत्यन्त स्वच्छ करता है परन्तु किनारे पर आते ही सम्पूर्ण शरीर के ऊपर धूल डाल कर अविलम्ब पुनः अस्वच्छ बन जाता है। इस प्रकार परीक्षित् महाराज कहते हैं कि यद्यपि प्रायश्चित्त की विधि से मनुष्य स्वयं को स्वच्छ कर सकता है परन्तु यदि वह पुनः वही पाप करे तो ऐसे प्रायश्चित्त का उपयोग ही क्या रहा? अतः परीक्षित् महाराज के द्वारा शुकदेव गोस्वामी से पूछा गया द्वितीय प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है : अन्ततः मनुष्य प्रकृति के गुणों के दोष से किस प्रकार छूट सकता है? यदि वह मुक्त नहीं हो सकता तो प्रायश्चित्त करने का क्या उपयोग है?

उत्तर में शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि केवल कर्म के द्वारा ही दूसरे कर्म निष्फल नहीं हो पाते अतः इससे मनुष्य के कष्टों

का पूर्ण रूप से अन्त नहीं हो सकता है। उदाहरण के लिये, संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व में शान्ति स्थापित करने का प्रयास कर रहा है परन्तु वह युद्ध को समाप्त नहीं कर सका। बारम्बार युद्ध होता है। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् राजनीतिज्ञ एवं नेताओं ने लीग ऑफ नेशन्स की रचना की। फिर द्वितीय विश्व-युद्ध आया तो उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ की योजना बनाई परन्तु युद्ध अभी भी हो रहे हैं। वास्तविक लक्ष्य युद्ध का अन्त करना है परन्तु ऐसा नहीं किया जा सकता। एक कार्य के द्वारा युद्ध आरम्भ किया जाता है तो दूसरे कार्य के द्वारा कुछ समय के लिये युद्ध बन्द कर दिया जाता है। परन्तु अगला अवसर पाते ही फिर दूसरा युद्ध आरम्भ कर दिया जाता है। हम वास्तव में चाहते हैं कि कष्ट एवं युद्ध से छुटकारा मिले परन्तु यह हो नहीं पाता। शुकदेव गोस्वामी ने कहा कि जहाँ एक युद्ध अशान्ति का कारण होता है तो दूसरे प्रकार का युद्ध पहले को कुछ समय के लिये रोक देता है परन्तु समस्या का यह पूर्ण हल नहीं है। श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि इन सब कठिनाइयों का मूल कारण अज्ञान है : **अविद्वदधिकारित्वात्।** **अविद्वत्** का अर्थ है "ज्ञान का अभाव", **अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम्।** सच्चा प्रायश्चित्त ज्ञान में होता है। युद्ध क्यों हो रहे हैं ये क्लेश क्यों हैं ? जब तक ये "क्यों" (केन) प्रश्न मन में नहीं उठते तब तक वेदों के अनुसार मनुष्य जीवन के उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर सकता है। ये प्रश्न अवश्य ही उठने चाहिये : "मैं क्यों कष्ट उठा रहा हूँ ? कहाँ से मैं आया हूँ ? मेरी वास्तविक स्थिति क्या है ? मृत्यु के बाद मैं कहाँ जाऊँगा ? मैं क्यों दुख भरा जीवन व्यतीत कर रहा हूँ ? जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि मुझे क्यों सहन करनी पड़ती हैं?"

ये प्रश्न किस प्रकार हल किये जा सकते हैं ? शुकदेव गोस्वामी कहते हैं : **नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधियोऽभिभवन्ति हि। एवं नियमकृद्राजन् शनैः क्षेमाय कल्पते ॥** यदि कोई रोगी-जीवन का अन्त चाहता है तो उसको नियम का पालन करना पड़ेगा। यदि चिकित्सक के द्वारा

रोग ठीक करने लिये बताये गये साधन का पालन नहीं किया जाय तो मनुष्य अच्छा नहीं हो सकता। उसी प्रकार वैदिक ज्ञान के अनुसार यदि मनुष्य विवेकपूर्वक नहीं सोचे या बुद्धिमानी से कार्य नहीं करे तो वह कैसे जीवन की समस्याओं का अन्त कर सकता है? प्रायश्चित्त करने से कठिनाइयाँ अस्थायी रूप से भले ही समाप्त ही जायें परन्तु वे पुनः हमारे सामने उठेंगी।

श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि भौतिक अथवा पापमय जीवन में हम कर्म ही इस प्रकार करते हैं कि हमें पाप करने के लिये एवं उनका फल भोगने के लिये बाध्य होना पड़ता है। इसलिये यदि हम इस कष्ट के चक्र को समाप्त करना चाहते हैं तो हमको ज्ञान का विकास करना होगा। साधारण लोग अर्थात् कर्मी थोड़े से विषय-सुख के लिये दिन-रात कठोर परिश्रम करते हैं और उसके बाद पुनः कष्ट उठाते हैं। इस प्रकार इन कर्मियों की समस्याओं का कभी भी हल नहीं निकलता। अतः यह सलाह दी गई है कि मनुष्य श्रीमद्भागवत में वर्णन किये गये ज्ञान के स्तर तक स्वयं को उन्नत करे। पहली आवश्यकता तपस्या है। यदि चिकित्सक (डॉक्टर) मधुमेह के रोगी को कुछ दिन उपवास करने की सलाह देता है तो रोगी को स्वस्थ होने के लिये स्वेच्छा से उपवास करना ही पड़ेगा चाहे वह इसे पसन्द करे या नहीं। यह तपस्या है अर्थात् स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहना है। तपस्या करने की योग्यता एक गुण है तथा मनुष्य-जीवन इसी उद्देश्य के लिये बनाया गया है। निःसंदेह, वैदिक संस्कृति के अनुसार सभी को तपस्या करनी चाहिये इस-लिये देश के विभिन्न भागों में तपस्या में लीन तपस्वी देखे जा सकते हैं। जाड़े में वे गले तक जल में खड़े रहकर ध्यान करते हैं। भीषण जाड़े में जल में खड़े रहना कोई सुविधादायक नहीं है फिर भी वे स्वेच्छापूर्वक इसे करते हैं। गर्मी में वे चारों ओर से अग्नि जलाते हैं और ज्वाला के मध्य बैठकर ध्यान करते हैं। ये देश में की जाने वाली कठोर तपस्या के कुछ उदाहरण हैं।

किसी न किसी प्रकार की तपस्या आवश्यक है। इसके विना मनुष्य आध्यात्मिक जीवन अर्थात् ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकता। यदि हम तपस्या न करके पशुओं के समान केवल आहार, निद्रा, आत्म-रक्षा एवं मैथुन में ही संलग्न रहे तो हमारा मनुष्य जीवन विफल है। यदि कोई श्रीकृष्णभावनामृत संघ का दीक्षा-प्राप्त सदस्य बनना चाहता है तो सबसे पहले हम उसको तपस्या करने के लिये कहते हैं। अवैध स्त्री अथवा पुरुष सम्बन्ध, नशा, मांसाहार एवं जुआ का त्याग करना एक महान् तपस्या है (विशेषकर पश्चिमी देशों में)। यद्यपि, हम केवल यही तपस्या करने को कहते हैं फिर भी इनका पालन अत्यधिक कठिन है। इंग्लैन्ड में एक धनी एवं वैभवशाली पुरुष ने वैष्णव गुरुभाई से प्रश्न किया : "स्वामी जी, क्या आप मुझे ब्राह्मण बना सकते हैं?" स्वामी जी का उत्तर था, "हाँ क्यों नहीं ? आपको केवल इन चार नियमों का पालन करना होगा—अवैध स्त्री या पुरुष संग, नशा, जुआ तथा मांसाहार का त्याग।" "असम्भव", उस ब्रिटिश नागरिक ने उत्तर दिया। हाँ, यह असम्भव है विशेषकर यूरोप या अमेरिका जैसे देशों में जहाँ जीवन का आरम्भ इन दुराचारों से ही होता है। भारतीय सज्जन प्रायः इन पापों को सीखने के लिये पश्चिम में आते हैं और सोचते हैं वे इस प्रकार प्रगति कर रहे हैं। वैदिक संस्कृति के द्वारा भारतीयों को अपने आप ही तपस्या करना सिखाया जाता है परन्तु पश्चिमी देशों में आने से वे उस संस्कृति को भूल कर विभिन्न प्रकार के जीवन में रंग जाते हैं। सत्य तो यह है कि यदि कोई आध्यात्मिक ज्ञान में प्रगति करना चाहता है एवं जीवन की सब समस्याओं को हल करना चाहता है तो उसे तपस्या अर्थात् आत्म-निग्रह एवं प्रतिबन्ध पूर्ण जीवन अवश्य ही व्यतीत करना चाहिये।

प्रतिबन्ध मनुष्यों के लिये ही है पशुओं के लिये नहीं। नित्य प्रति अपने सामान्य व्यवहार में भी हम प्रतिबन्ध पाते हैं। कानून भंग किये बिना हम दाँये हाथ पर या लाल रोशनी रहते हुये मोटर को

नहीं चला सकते। किन्तु, कुत्ता यदि दाँये हाथ पर चले अथवा लाल रोशनी के होते हुये सड़क पार करे तो उसको कोई दण्ड नहीं मिलेगा क्योंकि वह पशु है। इसलिये विधि-विधान (कानून) मनुष्य एवं पशुओं में अन्तर देखता है, कारण मनुष्यों की चेतना-अवस्था विकसित मानी जाती है। यदि हम विधि-नियमों का पालन नहीं करें तो पुनः हम पशु के समान वन जाते हैं। यद्यपि आजकल यह प्रचार किया जाता है कि नियमित जीवन का अर्थ है स्वाधीनता का विरोध। परन्तु जो तत्त्व दर्शी हैं वे समझ सकते हैं कि सम्पूर्ण प्रतिवन्धों से मुक्ति पशु जीवन है। अतः शुकदेव गोस्वामी तपस्या की सलाह देते हैं। हम जीवन की समस्याओं से यदि वास्तव में छुटकारा चाहते हैं तो हमको तपस्या का जीवन ग्रहण करना पड़ेगा। हम ऐसा नहीं करते तो संसार में बन्धन निश्चित है।

तपस्या क्या है ? तपस्या का प्रथम सिद्धान्त है ब्रह्मचर्य—प्रतिवन्धित मैथुन। ब्रह्मचर्य का वास्तविक अर्थ तो पूर्ण रूप से काम का त्याग करना है और वैदिक संस्कृति के अनुसार जीवन के आरम्भ में कठोरता के साथ ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करना चाहिये। युवावस्था प्राप्त होने पर ब्रह्मचारी विवाह कर गृहस्थ वन सकता है तथा गृहस्थाश्रम में स्त्री-संग की अनुमति है परन्तु ब्रह्मचर्य आश्रम दृढ़तापूर्वक पूर्णरूपेण मैथुन से रहित जीवन है। वर्त्तमान में तपस्वी जीवन की शिक्षा नहीं दी जाती इसलिये तपस्या के अभाव के कारण जन-साधारण का पतन हो चुका है। आलोचना से कार्य नहीं वनेगा; मनुष्य को तपस्वी जीवन का प्रभावशाली प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) देना आवश्यक है।

वेदों में कहा गया है कि जो तपस्या का नियमित जीवन पालन करते हैं वे ब्राह्मण हैं। **एतदक्षरं गार्गि विदितवासमल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः। एतदक्षरं गार्गि अविदतावसमल्लोकात्प्रैति स कृपणः।** प्रत्येक व्यक्ति की मृत्यु हो रही है क्योंकि यहाँ कोई भी स्थायी रूप से

नहीं रह सकता परन्तु जो तपस्या करता हुआ मरता है वह ब्राह्मण है। जो कुत्ते-बिल्ली के समान बिना तपस्या किये हुये मरता है वह कृपण है। वैदिक साहित्य में ये शब्द प्रायः प्रयोग किये जाते हैं— ब्राह्मण और कृपण। कृपण का अर्थ है "संकुचित विचार वाला" (कन्जूस) तथा उदार मन वाले ब्राह्मण कहलाते हैं। **ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः** जो परतत्त्व, परम सत्य को जानता है, वह ब्राह्मण है और जो नहीं जानता वह पशु है। पशु तथा मनुष्य में यही अन्तर है; मनुष्य 'नाम' सार्थक बनाने के लिये उसे परम सत्य के ज्ञान की शिक्षा अवश्य ही दी जानी चाहिये। मनुष्य-जीवन ज्ञान प्राप्त करने के लिये बनाया गया है इसलिये यहाँ विद्यालय एवं महाविद्यालय (कॉलेज), दार्शनिक और वैज्ञानिक तथा गणितज्ञ इत्यादि होते हैं। आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन की विधियों को सिखाने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इनकी शिक्षा स्वभावतः ही प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष है कि मानव जीवन किसी और ही लक्ष्य के लिये बनाया गया है। यह तपस्या एवं ज्ञान प्राप्त करने के लिये है।

ब्रह्मचर्य-आश्रम तपस्वी जीवन का आरम्भ है। वेदों में ब्रह्मचर्य की विशेषताओं का वर्णन किया गया है : **स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च** (श्रीधर स्वामी की भागवत (६.१.१२) टीका)। ब्रह्मचर्य का यथार्थ पालन करने के लिये मनुष्य को मैथुन के विषय में चिन्तन एवं चर्चा भी नहीं करनी चाहिये। कामोत्तेजक विषयों से भरे साहित्य तथा समाचार पत्रों का अध्ययन भी ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त के विपरीत है। उसी प्रकार किसी भी प्रकार की कामुक क्रियाओं में संलग्न होना, स्त्रियों को निहारना और उनसे गोपनीय ढंग से चर्चा करना, मैथुन की योजना बनाना अथवा उसमें संलग्न होने का प्रयत्न करना ये सब क्रियायें ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त के विपरीत हैं। जब मनुष्य सच्चे ब्रह्मचर्य का पालन करता है तो इन सब क्रियाओं की समाप्ति हो जाती है।

तपस्या, ब्रह्मचर्य और मन एवं इन्द्रियों के निग्रह के द्वारा मनुष्य शुद्ध जीवन में प्रगति कर सकता है। उसी प्रकार से उचित दान के द्वारा प्रगति की जा सकती है। इसे त्याग कहते हैं। यदि किसी के पास लाखों रुपये हैं तो उसे अपने समीप नहीं रखना चाहिये वरन् अपनी सामर्थ्य के अनुसार उस धन को वह श्रीकृष्ण के लिये व्यय करे। धन अथवा शक्ति का सदुपयोग तभी होता है जब इनके द्वारा श्रीकृष्ण की सेवा की जाय।

जैसे ही मनुष्य अपनी देह त्यागता है वैसे ही उसकी सब सम्पत्ति और देह के सम्बन्ध से एकत्र की गई प्रत्येक वस्तु का अन्त हो जाता है। कारण, आत्मा तो एक शरीर से दूसरे में भ्रमण करती है और मनुष्य को पता नहीं रहता कि उसके द्वारा पहले शरीर में कमाया गया धन रखा हुआ है अथवा किस ढंग से व्यय किया जा रहा है। एक व्यक्ति भले ही यह घोषणा करता हुआ संसार छोड़ सकता है कि उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी उसके धन को किस प्रकार व्यय करें। परन्तु, वह लाखों रुपये छोड़ दे फिर भी अगले जीवन में इस धन पर उसका कोई अधिकार नहीं होगा। इसलिये धन जब तक हाथ में है, उसका सत्कार्यों में व्यय करना श्रेष्ठ है। यदि बुरे कार्यों के लिये धन व्यय किया जाता है तो मनुष्य बन्धन में फँसता है परन्तु सत्कार्यों में व्यय करने से उसको अच्छा फल मिलता है। यह भगवद्-गीता में बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता व्याख्या करती है, तीन प्रकार के दान होते हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। सात्त्विक प्रवृत्ति वाला मनुष्य जानता है कि दान किसे देना चाहिये। भगवद्गीता (९.२९) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

"मैं किसी से द्वेष नहीं करता और न किसी का पक्षपात करता

हूँ। जीवमात्र में मेरा समभाव है। परन्तु जो भी प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते हैं, वे मेरे सखा हैं तथा मुझमें ही स्थित हैं तथा मैं भी उनका प्रेमी हूँ।"

श्रीकृष्ण को धन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के मूल स्वामी तो वे ही हैं (**ईशावास्यमिदं सर्वं**)। परन्तु फिर भी हमसे वे दान माँगते हैं। उदाहरण के लिये भगवान् श्रीकृष्ण वामनावतार में एक बौने ब्राह्मण के ·भेष में बलि महाराज के पास भिक्षा माँगने गये। तो यद्यपि वे **सर्वलोकमहेश्वरम्**—अर्थात् सम्पूर्ण लोकों के स्वामी हैं फिर भी कहते हैं "कृपया मुझे दान दीजिये।" क्यों? हमारा कल्याण करने के लिये क्योंकि जितना शीघ्र हम श्रीकृष्ण का धन लौटायेंगे, हमारी स्थिति उतनी ही श्रेष्ठ होती जायेगी। निःसन्देह, हो सकता है कि सुनने में यह रुचिकर न लगे परन्तु भगवान् की सम्पत्ति की चोरी करने के कारण वास्तव में हम सभी चोर हैं। यदि किसी के पास कोई वस्तु है और वह मनुष्य भगवद्-भावना से युक्त नहीं है तो यह समझा जाता है कि उसने भगवान् की सम्पत्ति की चोरी की है। भौतिक जीवन की यही प्रकृति है। यदि इस पर विवेकपूर्ण विचार किया जाये और यदि मनुष्य सच्चा ज्ञान प्राप्त कर ले तो वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। जिन भगवान् की सम्पत्ति का हम प्रयोग कर रहे हैं यदि हम उनका ज्ञान नहीं प्राप्त करते तो जो कुछ भी हमारे पास है वह चोरी किया गया है। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में यह भी आता है कि यदि हम यज्ञ के लिये अपना धन व्यय नहीं करते तो हम चोर हैं (**यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः**)। उदाहरण के लिये यदि मनुष्य प्रचुर धन कमा लेता है परन्तु आय कर से बचने के लिये वह उसे छिपाने का प्रयत्न करे तो शासन उसे अपराधी मानता है। वह यह नहीं कह सकता, "मैंने यह धन कमाया है। मैं शासन को क्यों कर दूँ?" नहीं, उसे कर अवश्य देना पड़ेगा नहीं तो दण्ड का संकट उसके सिर पर रहता है। उसी प्रकार परमार्थिक दृष्टिकोण के अनुसार जो कुछ भी

हमारा है वह भगवान् का है, श्रीकृष्ण का है अतः उनकी इच्छा के अनुरूप उसका उपयोग होना चाहिये। हम भवन निर्माण करने की इच्छा करते हैं पर इस कार्य के लिये आवश्यक वस्तुयें—पत्थर, लकड़ी मिट्टी इत्यादि कौन देता है ? हम कृत्रिम रूप से लकड़ी उत्पन्न नहीं कर सकते; यह भगवान् की सम्पत्ति है। धातु हम उत्पन्न नहीं कर सकते इसको खदान से निकालना पड़ता है,जो भगवान् की ही सम्पत्ति है। मिट्टी और उससे वनी हुई ईंटें भी भगवान् की हैं। हम केवल अपना श्रम देते हैं परन्तु यह श्रम भी भगवान् की सम्पत्ति है। हम हाथ के द्वारा कार्य करते हैं परन्तु ये भगवान् के हाथ हैं हमारे नहीं, क्योंकि जव भगवान् हाथ से कार्य करने की शक्ति वापस ले लेते हैं तब वही हाथ व्यर्थ हो जाता है। इस महान् अवसर (मानव-जीवन) का उपयोग इन विषयों को समझने के लिये करना चाहिये जो श्रीमद्-भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीता जैसे वैदिक ज्ञान के प्रमाणिक ग्रन्थों में वर्णन किये गये हैं। भागवत में शुकदेव गोस्वामी घोषणा करते हैं कि वास्तविक प्रायश्चित्त में विचारशीलता, गम्भीरता तथा मन स्थिर करने की आवश्यकता पड़ती है। हमें यह अवश्य चिन्तन करना चाहिये कि हम यह देह हैं या इससे परे कुछ और। हम यह भी जानने का प्रयत्न अवश्य करें कि भगवान् क्या हैं। इन विचारों का कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है। हमें समय विल्कुल व्यर्थ नहीं करना चाहिये। जिसे यह ज्ञान चाहिये, उसको तपस्या करनी पड़ेगी और जैसे पहले वर्णन किया जा चुका है तपस्या का आरम्भ होता है—ब्रह्मचर्य से अर्थात् पूर्ण रूप से काम का त्याग अथवा प्रति-वन्धित मैथुन। सांसारिक आकर्षण का आधार ही काम है न केवल मानव समाज में वरन् पशुओं के समाज में भी। गौरैया एवं कबूतर शाकाहारी होते हुए भी दिन में तीन सौ बार मैथुन करते हैं जबकि शेर मांसाहारी हैं, वे वर्ष में एक बार ही मैथुन करते हैं। आध्यात्मिक जीवन में शाकाहारी बनने का प्रश्न नहीं वरन् परमार्थिक ज्ञान प्राप्त

करने का लक्ष्य है। जब उन्नत ज्ञान की प्राप्ति होती है तो मनुष्य अपने आप ही शाकाहारी बन जाता है। **पण्डिताः समदर्शिनः** एक पण्डित (उच्च कोटि का विद्वान्) विद्वान् ब्राह्मण, हाथी, कुत्ते तथा गाय को सम भाव से देखता है। वह समदर्शी होता है; उसकी दृष्टि सभी को समान देखने में समर्थ रहती है। यह कैसे सम्भव है? वह शरीर नहीं वरन् आत्मा—चित्कण (ब्रह्म) देखता है। वह सोचता है, "यह कुत्ता है परन्तु इसमें भी जीवात्मा है जो अपने प्रारब्ध के कारण कुत्ता बनी है। विद्वान् ब्राह्मण भी चेतन-स्फुलिंग है जिसको पूर्व के कर्मों के अनुसार अच्छा जन्म मिला है।" जब मनुष्य इस अवस्था पर आता है तब वह शरीर नहीं वरन् आत्मा को देखता है और एक जीव तथा दूसरे जीव में अन्तर नहीं देखता। वास्तव में हम शाकाहारी तथा मांसाहारी में भेद नहीं रखते क्योंकि गाय अथवा बकरी के समान घास में भी जीवन है। किन्तु, श्रीईशोपनिषद् (१ श्लोक) का वैदिक परामर्श, पथ दिखा रहा है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

"इस जगत् के जड़ अथवा चेतन सभी पदार्थों के नियन्त्रक एवं स्वामी भगवान् हैं। अतः मनुष्य को केवल वे ही वस्तुयें ग्रहण करनी चाहिये जो उसके लिये आवश्यक हैं तथा जो उसके लिये पहले से ही अलग निश्चित कर दी गई हैं। मनुष्य अन्य वस्तुयें न ग्रहण करे क्योंकि उसको यह ज्ञान होना चाहिये कि उनका स्वामी कौन है।"

प्रत्येक वस्तु परम-ईश्वर श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है अतः मनुष्य उन्हीं वस्तुओं को भोग सकता है जो भगवान् के द्वारा उसे प्रदान की गई हैं। वह दूसरों की सम्पत्ति का स्पर्श न करे। वैदिक जीवन तथा सम्पूर्ण वैदिक शास्त्रों के अनुसार मनुष्य को शाक एवं फल का आहार करना चाहिये क्योंकि उसके दाँत भी इस प्रकार बनाये गये हैं कि ये वस्तुयें बड़ी सरलता से खाई तथा पचाई जा सकती हैं। यद्यपि यह

प्रकृति का नियम है, जीवित रहने के लिये दूसरे जीवों का भक्षण करना पड़ता है (**जीवो जीवस्य जीवनम्**), परन्तु हमें अपने विवेक का प्रयोग करना आवश्यक है। फल, पुष्प, शाक, चावल, अन्न और दूध मनुष्यों के लिये बनाये गये हैं। दूध, उदाहरण के लिये पशु से प्राप्त पदार्थ है एवं उसके रक्त का ही परिवर्तित रूप है, परन्तु गाय बछड़े की आवश्यकता से अधिक दूध देती है क्योंकि दूध मनुष्यों के लिये भी है। मनुष्य दूध ग्रहण करे और गाय को जीवित रहने दिया जाय, इस प्रकार प्राकृतिक नियमों के पालन के द्वारा मनुष्य सुखी हो जायेगा। (**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**) भगवान् के द्वारा दी गई वस्तुओं को स्वीकार कर सुविधापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहिये।

हमें इस कृष्ण-विज्ञान के माध्यम से अपनी भावना को उन्नत करना है। दान करने की इच्छा सबके हृदय में है परन्तु हमें यह ज्ञात नहीं है कि इसका सदुपयोग कैसे किया जाय। हमारी शक्ति केवल श्रीकृष्ण के लिये व्यय की जानी चाहिये क्योंकि इसके स्वामी वे ही हैं। श्रीकृष्ण के लिये व्यय करने में मनुष्य की हानि नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण इतने अधिक दयालु हैं कि जब हम उनको भोजन अर्पण करते हैं तो वे उसे ग्रहण करके पुनः हमारे लिये प्रत्येक वस्तु छोड़ देते हैं। श्रीकृष्ण को केवल भोजन अर्पण करने मात्र से ही हम भक्त बन सकते हैं। हमें एक पैसा भी अतिरिक्त व्यय नहीं करना पड़ेगा। परमार्थिक दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक वस्तु श्रीकृष्ण की है, परन्तु यदि हम उसे श्रीकृष्ण को अर्पित करते हैं तभी हमारी उन्नति हो सकती है। शद्ध जीवन में प्रगति करने का यह सर्वोत्कृष्ट एवं सिद्ध मार्ग है।

५

दृढ़तापूर्वक कृष्ण-भक्ति का साधन

जब मनुष्य सांसारिक वैभव की सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति करता है तब त्याग की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही उत्पन्न होती है। संसार में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं—भोग (इन्द्रियतृप्ति) और त्याग (भौतिक जगत् को छोड़ना)। किन्तु, मार्गदर्शन न मिलने के कारण मनुष्य को यह ज्ञात नहीं है कि त्याग कैसे किया जाय। सर्वप्रथम तो मनुष्य भोग करना चाहता है और भोग में निराशा प्राप्त होने के पश्चात् त्याग करता है। जब वह त्याग से थक जाता है तो पुनः भोग की ओर उन्मुख होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे घड़ी का लटकन (पेण्डुलम) इधर-उधर गतिशील रहा करता है। इस प्रकार हम सब भोग से त्याग के स्तर पर और पुनः त्याग से भोग की ओर उन्मुख होते हैं।

सकाम कर्मी इस संसार को भोगने का प्रयास करते हैं और वैसा ही फल प्राप्त करते हैं। परिणामस्वरूप वे दिन में वस एवं रेल-गाड़ी में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं तथा रात्रि में विषय-भोग में व्यस्त हो जाते हैं। दूसरी ओर अन्य लोग, विशेषकर असन्तुष्ट युवा वर्ग है जो इसमें किंचित् भी भाग नहीं लेना चाहता। इस प्रकार जगत् में भोग और त्याग दोनों में ही संलग्न व्यक्ति हैं। किन्तु, इन दोनों मार्गों का पालन करने पर भी हम सुखी नहीं हो सकेंगे, कारण हमारी वास्त-

विक स्थिति भोग अथवा त्याग करने की नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण की है, हमारा कुछ भी नहीं है, इसलिये जो कुछ भी हमारे समीप है वह वास्तव में श्रीकृष्ण का है। (**ईशावास्यमिदं सर्वं**) वृक्ष, शाक, जल या भूमि इत्यादि की सृष्टि हमारे द्वारा नहीं की गई तव फिर इन पर हम कैसे अधिकार स्थापित कर सकते हैं। जब हमारे पास वास्तव में कुछ है ही नहीं तव हम क्या त्याग सकते हैं। जैसे कहा जाता है, हम संसार में नग्न आये और नग्न ही जायेंगे। इस बीच हम मिथ्या ही दावा करते हैं, "यह मेरा देश है, मेरा घर है, मेरी पत्नी है, मेरी सन्तान है, मेरा धन है, इत्यादि।" यह दावे झूठे हैं कारण हम खाली हाथ इस जगत् में आये और खाली हाथ ही जाना है। तब फिर भोग अथवा त्याग का अर्थ ही क्या रहा ? वास्तविकता के प्रकाश में इनका कोई सच्चा अर्थ नहीं है। भोग करना चोरी है और जो हमारा है ही नहीं उसका त्याग पाखण्ड है।

इस विषय में भगवान् श्रीकृष्ण हमें निर्देश देते हैं : **सर्वधर्मान्-परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज** (गीता १८.६६)। यद्यपि हमने भोग एवं त्याग पर आधारित विभिन्न प्रकार के धर्मों की रचना कर ली है परन्तु हमको इन सब धर्मों का त्याग कर श्रीकृष्ण के शरणागत होने का परामर्श दिया गया है। भोग अथवा त्याग करना हमारी शक्ति के अन्तर्गत नहीं है। भगवद्गीता में जो त्याग करने का अनुमोदन किया गया है उसका अर्थ है उन सब वस्तुओं का त्याग जिनको हम मिथ्या ही अपना मानने का दावा करते हैं। एक बालक भले ही अपने पिता से सौ रुपये का नोट लेकर अपनी जेब में रखने का प्रयत्न कर सकता है-उसको यह भी ज्ञात न हो कि रुपये का प्रयोग कैसे किया जाता है। पिता बालक से भिक्षा माँगता है, "प्रिय पुत्र, मुझे वह रुपया दे दो।" बालक को यह पता नहीं कि वास्तव में वह धन उसके पिता का है और न ही उसे यह ज्ञात है कि वह रुपया अपने पिताजी को दे देना ही सबसे अधिक कल्याणकारी कार्य है। इसका कारण है कि बालक यह नहीं

जानता कि रुपये का किस प्रकार उपयोग किया जाय। उसी प्रकार श्रीकृष्ण कहते हैं, "अपने कर्मों का त्याग मेरे लिये करो। अपना धन तथा सम्पत्ति का त्याग मेरे लिये करो।" श्रीकृष्ण भिक्षुक नहीं हैं, प्रत्येक वस्तु उन्हीं की है परन्तु, वे हमें छोटे बालक के समान मानते हैं। श्रीकृष्ण के अनुरोध के अनुसार प्रत्येक वस्तु उनको समर्पित कर देना ही त्याग है और यह समर्पण कृष्ण-भक्ति में प्रगति करने का एक ढंग है। तपस्या, ब्रह्मचर्य, समभाव तथा दान ये सब परम सत्य के साक्षात्कार के लिये आवश्यक हैं। श्रीकृष्णभावनामृत सापेक्ष सत्य से नहीं वरन् परम सत्य से सम्बद्ध है। श्रीमद्भागवत में श्रीव्यासदेव परम सत्य की वन्दना करते हैं (**सत्यं परं धीमहि**)। वे सापेक्ष सत्यों को नहीं अपितु चरम लक्ष्य, परम सत्य को प्रणाम करते हैं। ब्राह्मणों का कर्त्तव्य है, उन गुणों का अभ्यास करना जिनसे परम सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है।

शुचि (स्वच्छता), सत्यता, मन एवं इन्द्रियों का निग्रह, सरलता के अभ्यास से तथा वेदों में विशेष कर भगवद्गीता में श्रद्धा रखने के द्वारा ब्राह्मणों को अवश्य ही योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। जब भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "मैं परम-ईश्वर हूँ", तो हमें इसे श्रद्धा के साथ स्वीकार करना पड़ेगा—ऐसा मूर्खतापूर्वक नहीं वरन् पूर्ण ज्ञान के साथ किया जाता है। तत्पश्चात् हमें व्यवहारिक दृष्टि से इस स्वीकृति का अपने नित्य-प्रति जीवन में प्रयोग करना है। ब्राह्मण जन्म से नहीं वरन् शिक्षा, अभ्यास एवं ज्ञान के द्वारा बना जाता है। यह जन्म का नहीं अपितु गुणों का प्रश्न है जैसे कि श्रीकृष्ण भगवद्गीता (४.१३) में स्वयं कहते हैं :

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

"प्रकृति के तीन गुणों और उनके नियत कर्मों के अनुसार चारों वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं, परन्तु इस व्यवस्था का कर्त्ता होने पर भी

मुझ अविनाशी को तुम अकर्त्ता ही जानो।" हममें न केवल ब्राह्मणों के गुण होने चाहिये परन्तु हमको ब्राह्मणों के अनुरूप कर्म भी करना चाहिये क्योंकि मनुष्य के गुणों की परीक्षा उसके कार्यों द्वारा होती है। यदि कोई योग्य यन्त्री (इन्जीनियर) है परन्तु वह केवल घर में बैठा रहे तो उसका मूल्य ही क्या है? उसी प्रकार जब तक ब्राह्मणों के समान कर्म नहीं किया जाय तो केवल यह कहते रहने का क्या मूल्य है कि मैं ब्राह्मण हूँ। अतएव परब्रह्म श्रीकृष्ण की सेवा में पूर्ण-रूप से संलग्न रहना ही ब्राह्मणों के अनुरूप कर्म है।

परम सत्य की सेवा कैसे की जा सकती है? **यमेन नियमेन च-**योग का अभ्यास अर्थात् परतत्त्व से सम्बन्ध स्थापित करने की विधि, यम एवं नियम के सिद्धान्तों पर आधारित है। नियम के बिना यम नहीं किया जा सकता; अतः मनुष्य विचारशील बनकर अपने को शुद्ध करे। जो परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहता है उसको विद्यालय जाना पड़ता है, विद्यालय के सिद्धान्तों का पालन करना होता है, अध्ययन करने का कष्ट उठाना पड़ता है तब कहीं जाकर वह धीरे-धीरे सफल हो पाता है। यदि वह सारा दिन सड़क पर खेलता ही रहे तो सफलता की आशा कैसे की जा सकती है? अतः शुकदेव गोस्वामी द्वारा बताई गई विधि की प्रथम आवश्यकता तपस्या करना है। हम प्रतिबन्ध नहीं चाहते, इसीलिये तपस्या एवं ब्रह्मचर्य कष्टदायक लगते हैं परन्तु हमारे द्वारा नियम का आरम्भ करते ही जो कष्टदायक प्रतीत होता था वह अभ्यास करने में दुखद नहीं लगता।

संसार में दो प्रकार के व्यक्ति हैं—धीर और अधीर। जो आवेश का कारण रहते हुये अथवा मानसिक उत्तेजना के स्रोत की उपस्थिति में भी सुदृढ़ रह सके वह धीर कहलाता है। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने अपने ग्रन्थ कुमारसम्भव में धीर व्यक्ति का उदाहरण दिया है जहाँ शिवजी की कथा आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि देवासुर संग्राम में जब देवताओं की पराजय होने लगी तो यह

निश्चय किया गया कि देवताओं की रक्षा शिवजी के वीर्य से उत्पन्न सेनानायक के द्वारा ही की जा सकती है। किन्तु, श्री शिव ध्यानमग्न थे और उनका आवश्यक वीर्य प्राप्त करना अत्यधिक कठिन था। अतः उन लोगों ने पार्वती जी को भेजा जिन्होंने जाकर शिवजी की जननेन्द्रिय की पूजा की। यद्यपि पार्वती जी उनके सम्मुख बैठी रहीं और उनकी जननेन्द्रिय का स्पर्श भी किया फिर भी श्री शिव ध्यान में स्थिर बने रहे। कालिदास कहते हैं, "यह धीर पुरुष का उदाहरण है। युवती के द्वारा जननेन्द्रिय का स्पर्श किये जाने पर भी वे निर्विकार बने रहे।"

उसी प्रकार किसी ने श्रील हरिदास ठाकुर को विचलित करने के लिये एक युवती वैश्या को भेजा था। संगम की अभिलाषा सुनकर हरिदास ठाकुर बोले, "ठीक है, तुम्हारा प्रस्ताव तो अत्यन्त सुन्दर है। कृपया बैठो मैं अपना जप पूर्ण कर लूँ उसके पश्चात् हम सुख का उपभोग करेंगे।" प्रातःकाल हो गया और वेश्या अत्यन्त अधीर हो उठी परन्तु श्रील हरिदास ठाकुर ने उत्तर दिया, "मुझे वहुत दुःख है। मैं जप पूर्ण नहीं कर सका। रात्रि को पुनः आओ।" वैश्या तीन रात वहाँ आई तथा तीसरी रात वह उनके चरणों पर गिर पड़ी और अपना उद्देश्य स्वीकार कर लिया। उसने विनती की, "मैं इस कार्य के लिये आपके शत्रु द्वारा भेजी गई थी। कृपया मुझे क्षमा कर दीजिये।" तव हरिदास ठाकुर बोले, "मुझे सब कुछ ज्ञात है। मैंने तुम्हें यहाँ तीन दिन आने की इसीलिये अनुमति दी थी कि तुम्हारा उद्धार हो जाय और तुम भक्त वन जाओ। यह माला लो और इस पर जप करना आरम्भ करो। मैं इस स्थान को त्याग रहा हूँ।" यह धीर पुरुष का एक और उदाहरण है जिसने अपनी देह, वाच एवं बुद्धि पर नियन्त्रण कर लिया है। जो धीर हैं तथा धर्म की मर्यादा के यथार्थ ज्ञाता हैं उन्हें अपने शरीर, वाणी और बुद्धि पर नियन्त्रण करना ही चाहिये।

हम अनादि काल से निरन्तर पाप करते आ रहे हैं एवं हम यह भी नहीं जानते कि इसका आरम्भ कब हुआ। परन्तु यह जीवन हमारे द्वारा की गई सब प्रकार की त्रुटियों को सुधारने के लिये बनाया गया है। यदि खेत के अनावश्यक घास तथा लता-पत्तों में आग लगाई जाती है तो वे निश्चय ही भस्म हो जायेंगे। उसी प्रकार तपस्या एवं इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा मनुष्य अपने पापों का नाश करके शुद्ध बन सकता है। परन्तु शुकदेव गोस्वामी इसके लिये एक दूसरी ही विधि की सलाह देते हैं। **केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः। अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः।** साधारणतया यदि कोई तपस्या, ब्रह्मचर्य, समभाव तथा दान इत्यादि का पवित्र जीवन बिताता है तो लोग उस मनुष्य को अत्यन्त पुण्यात्मा कहते हैं परन्तु केवल कृष्ण-भक्त बनने मात्र से ही पहले के समस्त पाप भस्म हो जाते हैं। सूर्य के उदय होते ही कोहरा अप्रकट हो जाता है। मन में श्रीकृष्ण का उदय हजारों सूर्य के प्रकाश के समान है। परन्तु, यह विधि केवल अत्यधिक भाग्यशाली व्यक्तियों द्वारा ही स्वीकार की जा सकती है। अतः भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं : **ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव। गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्तिलता-बीज ॥** "गुरु एवं कृष्ण की कृपा से, विभिन्न योनियों से होता हुआ ब्रह्माण्ड में भटकता कोई भाग्यवान् जीव ही शुद्ध भक्ति का बीज प्राप्त करता है।" (चै. च., मध्य, १९. १५१) कृष्ण-भक्ति अत्यन्त भाग्यशाली लोगों के लिये है क्योंकि केवल एक इसी विधि का साधन करने मात्र से मनुष्य तपस्या, त्याग, ब्रह्मचर्य इत्यादि के समस्त कर्त्तव्यों को पार कर जाता है। शुकदेवजी घोषणा करते हैं : **केचित्केवलया भक्त्या** —"जो अत्यधिक भाग्यशाली है वही इस शुद्ध भक्ति को ग्रहण कर सकता है।" केवला भक्ति उस विशुद्ध अव्यभि-चारिणी भक्ति को कहते हैं जिसमें श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कोई अभिलाषा ही न हो। भक्ति अपनी आय बढ़ाने के लिये नहीं करें। हमें धन की आवश्यकता इसलिये है जिससे हम सुखी बन सकें

परन्तु कृष्ण-भक्ति करने से हम स्वतः इतने अधिक सुखी हो जाते हैं कि धन की उपेक्षा करने लगते हैं। धन अपने आप आयेगा। सुख की प्राप्ति भी स्वतः होगी। इन वस्तुओं को पाने के लिये अलग से प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ध्रुव महाराज ने पश्चात्ताप किया, "मैं कितना मूर्ख था कि मैंने भौतिक लाभ प्राप्त करने की इच्छा से भक्ति करना आरम्भ किया।" साधारणतया सांसारिक लाभ के लिये लोग अपने अधिकारी, किसी धनवान् व्यक्ति अथवा किसी देवता के पास जाते हैं परन्तु भक्त के मन में यदि कोई सांसारिक कामना है भी तो वे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त और कहीं जाते ही नहीं हैं। यदि कोई श्रीकृष्ण के पास सांसारिक लाभों के लिये जाता है तो भी एक दिन वह ध्रुव महाराज के समान अपनी समस्त सांसारिक कामनाओं को भूल जायेगा। ध्रुव महाराज को पछतावा हो रहा था, "जिस प्रकार अत्यन्त धनी मनुष्य को प्रसन्न करके कोई उससे चावल के कुछ कण माँगे उसी प्रकार मैंने श्रीकृष्ण के समीप आ कर भौतिक वस्तुओं को ही माँगा।" यदि एक धनवान् मनुष्य हमारी अभिलाषा के अनुसार देने को तैयार हो जाय परन्तु हम उससे केवल चावल के कुछ दाने माँग लें तो क्या यह बहुत बुद्धिमानी है ? श्रीकृष्ण से सांसारिक लाभ माँगना ठीक इसी प्रकार है। भक्तों को श्रीकृष्ण से सांसारिक सुख अलग से माँगने की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि भौतिक सुख तो अपने आप ही उसके पैरों के सामने पड़े विनती करते रहते हैं, "कृपया मुझे ग्रहण कर लीजिये, कृपया मुझे ग्रहण कर लीजिये।"

जो कृष्ण-भक्ति का साधन कर रहे हैं उनको सांसारिक वैभव—स्त्री, सन्तान, सुख, गृह—की आवश्यकता नहीं क्योंकि श्रीकृष्ण की अहेतुकी कृपा के कारण ये सब स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। हमें श्रीकृष्ण से इन भौतिक वस्तुओं की याचना नहीं अपितु केवल यही निवेदन करना चाहिये : "कृपया मुझे अपनी सेवा में संलग्न रखिये।" श्रीमद्-

भगवद्गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण वचन देते हैं यदि कोई उनकी सेवा में संलग्न रहता है तो वे उसे आवश्यक वस्तुयें प्रदान करते हैं तथा पूर्व वर्तमान वस्तुओं की रक्षा करते हैं। अर्जुन को दिये गये अन्तिम उपदेशों में से एक, भगवान् श्रीकृष्ण पर सर्वतोभावेन निर्भरता को दर्शाता है :

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

"सर्व प्रकार के कर्मों में एवं उनके फलों के लिये केवल मुझ पर निर्भर रहो तथा सदैव मेरे संरक्षण में कार्य करो। ऐसी भक्ति का आश्रय लेकर पूर्ण रूप से मुझमें चित्त वाला बनो।" (गीता १८·५७)

६

उपाधियों एवं समस्याओं का लंघन

भगवान् श्रीमन् गौरसुन्दर महाप्रभु की दया से कृष्ण-भक्ति की प्राप्ति सरलतापूर्वक हो जाती है परन्तु, श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं उनकी शिष्य-परम्परा की दया को केवल कुछ भाग्यशाली मनुष्य ही ग्रहण कर सकते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (७.३) के अनुसार :

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

"हजारों मनुष्य में से कोई एक सिद्धि के लिये यत्न करता है और सिद्ध हुए पुरुषों में भी कोई दुर्लभ मनुष्य ही मुझे तत्त्व से जानता है।"

भगवत्-साक्षात्कार पशुओं अथवा पशु प्रायः व्यक्तियों या मानव का रूप प्राप्त किये पशुओं के लिये सम्भव नहीं है। आज की सभ्यता अधिकांशतः पशुओं का समुदाय है क्योंकि जैसा पूर्व में कहा गया है यह पशुओं की प्रवृत्तियों के आधार पर क्रियाशील है। पशु एवं पक्षी प्रातः काल उठकर स्वयं को भोजन, मैथुन और आत्म-रक्षा के प्रयत्नों में व्यस्त कर लेते हैं; रात्रि में वे आश्रय की खोज करते हैं तथा प्रातः होने पर पुनः फल-फूल की आशा में एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाते हैं। उसी प्रकार न्यूयॉर्क एवं बम्बई जैसे महानगरों में भीड़ की भीड़

रोटी के उद्देश्य से कार्यालय जाने के लिये एक द्वीप से दूसरे द्वीप में नाव तथा लोकल से यात्रा करती है अथवा उप-मार्गों पर आवागमन के साधनों की प्रतीक्षा में व्यस्त रहती है। यद्यपि नाव एवं उपमार्ग सदैव भीड़ से भरे रहते हैं और अनेक व्यक्तियों को रोटी के लिये चालीस से पचास मील तक भी यात्रा करनी पड़ती है, वहीं पक्षी लोग एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर उड़ जाने के लिये मुक्त रहते हैं।

वास्तविक सभ्यता की रुचि मनुष्य की पाशविक (पशु-जैसी) आवश्यकताओं को केवल पूर्ण करने में ही नहीं वरन् मानव को अपने परम पिता भगवान् के साथ सम्वन्ध का ज्ञान प्राप्त कराने में हुआ करती है। भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध किसी भी विधि–बाइबिल के द्वारा, वैदिक साहित्य के द्वारा अथवा कुरान के द्वारा सीख सकते हैं। मनुष्यों के लिये इस सम्वन्ध का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त ही आवश्यक है। इस श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य क्रिश्चयनों (ईसाइयों) को हिन्दू या हिन्दुओं को क्रिश्चयन बनाना नहीं वरन् प्रत्येक को यह सूचित करना है कि सम्पूर्ण मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य—भगवान् के साथ अपने सम्वन्ध को समझना है। हमें यह ज्ञान अवश्य ही प्राप्त करना चाहिये नहीं तो हम अपना समय केवल पशुवत् प्रवृत्तियों में नष्ट कर रहे हैं। हम भगवान् अर्थात् श्रीकृष्ण से प्रेम करने का अवश्य प्रयत्न करें। यदि किसी को यह भगवद्-प्रेम करने की विधि ज्ञात है तो उसे इसका अभ्यास करना चाहिये नहीं तो वह आकर इस विधि को सीख सकता है। हमें अन्य विधियों से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। **विषादप्यमृतं ग्राह्यं अमेध्यादऽपि कांचनम्। नीचादप्युत्तमं विद्यां स्त्रीरत्नंदुष्कुलादपि॥** (नीति दर्पण १.१६)। चाणक्य पण्डित कहते हैं कि उत्तम वस्तु को किसी भी स्रोत से ग्रहण कर ले। यदि विष से भरे पात्र में थोड़ा सा अमृत हो तो मनुष्य को अमृत लेकर विष को छोड़ देना चाहिये। स्वर्ण (सोना) यदि अपवित्र स्थान में भी प्राप्त होता है तो उसे ग्रहण कर ले। उसी प्रकार यद्यपि वैदिक शिक्षा-पद्धति के अनुसार

ब्राह्मण जैसे बुद्धिमान् व्यक्तियों के द्वारा उपदेश दिये जाते हैं, परन्तु सामाजिक दृष्टि से निम्न वर्ण में जन्मे व्यक्ति ने भी यदि सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है तो उसको गुरु के रूप में स्वीकार कर शिक्षा लेनी चाहिये। यह नहीं सोचे कि उसका नीच कुल में जन्म हुआ है अतः उस व्यक्ति को शिक्षक नहीं माना जा सकता।

उसी प्रकार यदि हम भगवद् विज्ञान को समझने के लिये गम्भीर हैं तो यह नहीं सोचना चाहिये, "मैं हिन्दू हूँ," "मैं क्रिश्चयन हूँ," या "मैं मुसलमान हूँ।" यदि भगवद् प्रेम का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हम गम्भीर हैं तो विचार करें कि कौन सी विधि व्यवहारिक है। यह नहीं सोचना चाहिये, "मैं हिन्दू अथवा वैदिक शास्त्रों का पालन क्यों करूँ?" वैदिक शास्त्रों के पालन का उद्देश्य है भगवान् से प्रेम का विकास करना। जब विद्यार्थी उच्चाध्ययन के लिये अमेरिका जाते हैं तो वे इस तथ्य पर विचार नहीं करते कि शिक्षक अमेरिकन, जर्मन या दूसरी राष्ट्रीयता के भी हो सकते हैं। जिसे उच्चाध्ययन की आवश्यकता है वह आकर केवल उसको ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार इस श्रीकृष्णभावनामृत विधि के समान भगवान् का ज्ञान एवं उनकी प्राप्ति कराने वाली यदि कोई प्रभावशाली विधि है तो मनुष्य को उसे ग्रहण कर लेना चाहिये।

सभी नहीं परन्तु बुद्धिमान् और भाग्यशाली लोग ही इस भक्ति मार्ग (**केवलया भक्त्या**) का साधन कर सकते हैं तथा ऐसे व्यक्तियों की एकमात्र अभिलाषा कृष्ण-सेवा रहती है, ब्राह्म-मुहूर्त्त से रात्रि तक भक्त गण कृष्ण-सेवा में ही संलग्न रहते हैं। यह **केवलया** अर्थात् शुद्ध कही जाती है; उनके पास और किसी कार्य के लिये अवकाश ही नहीं है। समस्त प्राणियों को इस विधि का अभ्यास करने की सलाह दी गई है और यह सभी धार्मिक विधियों की परिपूर्णता है। **स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे** (भागवत् १.२.६)। संस्कृत शब्द परा एवं अपरा मार्ग या श्रेष्ठ (दिव्य) और निम्न (भौतिक) अर्थात् मार्गों की प्राप्ति के लिये

होता है। प्राकृत धर्म, अर्थात् सांसारिक-लाभ के लिये धर्म के पालन के अन्तर्गत लोग मन्दिर या चर्च में जाकर प्रार्थना करते हैं, "हे भगवन्! हमें दैनिक भोजन प्रदान कीजिये।" वास्तव में हमें इसकी माँग नहीं करनी चाहिये क्योंकि पहले से ही सबके लिये भोजन दे दिया गया है। यहाँ तक कि पशु-पक्षी बिना मन्दिर में गये एवं भगवान् से निवेदन किये ही भोजन पा रहे हैं। उसी प्रकार हम मन्दिर जायें या न जायें, हमारा भोजन प्रदान किया जा चुका है। यह कोई समस्या नहीं है क्योंकि भूख के कारण सड़क पर कोई नहीं मर रहा है तथा न ही हम यह पाते हैं कि पशु-पक्षी, यहाँ तक कि एक चींटी की भी भूख के कारण मृत्यु हो रही हो। भोजन है, हमें उसके लिये चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं। मस्तिष्क का प्रयोग करना ही है तो श्रीकृष्ण अर्थात् भगवान् के लिये इसका प्रयोग किया जाये। समय का सदुपयोग यही है। भगवान् के राज्य में रोटी का कोई अभाव नहीं है।

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः (भागवत १.५.१८) श्रीमद्भागवत कहता है, हमें वह वस्तु प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भी भ्रमण करने पर न मिले। वह वस्तु क्या है ? **केवलया भक्त्या**–विशुद्ध (केवला) भक्ति। भगवान् की व्यवस्था से इस पृथ्वी पर पर्याप्त भोजन है परन्तु हमने ही ऐसा प्रबन्ध कर लिया है कि जहाँ विश्व के एक भाग में, लोग कष्ट पा रहे हैं वहीं दूसरे भाग में अन्न को समुद्र में फेंका जा रहा है। वेदों की वाणी है, **एको बहूनां यो विदधाति कामान्**—वे परम पुरुष अनेक जीव को भोजन प्रदान कर रहे हैं। संसार में कठिनाई यह है कि हम आवश्यकता से अधिक वस्तु लेते हैं और इस प्रकार अपने सामने स्वयं ही समस्यायें खड़ी करते हैं। इन नाम-मात्र के राजनीतिज्ञों के नेतृत्व में मनुष्य स्वयं समस्याओं का निर्माण करता है। प्रकृति या भगवान् के प्रबन्ध के अनुसार तो प्रत्येक वस्तु ही पूर्ण हैं। श्रीईशोपनिषद् में आता है :

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

"भगवान् परिपूर्ण हैं अतः उनसे उत्पन्न हुये समस्त पदार्थ, उदाहरणार्थ यह भौतिक-जगत् भी स्वयं में संपूर्ण है। संपूर्ण से उत्पन्न हुई वस्तुयें भी स्वयं संपूर्ण हैं। क्योंकि वे संपूर्ण हैं अतएव अनेक संपूर्ण इकाइयाँ उनसे निकलने के पश्चात् भी भगवान् परिपूर्ण बने रहते हैं।" श्रीईशोपनिषद्, मंगलाचरण) भगवान् संपूर्ण हैं, उनकी सृष्टि संपूर्ण है तथा उनका प्रबन्ध भी संपूर्ण है परन्तु ये हम लोग हैं जो कि उपद्रव कर रहे हैं। लोगों को कृष्ण-भक्त बनाना ही सच्ची शिक्षा है तभी वे पृथ्वी की सम्पत्ति का सदुपयोग कर सकेंगे तथा उपद्रव समाप्त कर देंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्तावों के द्वारा समस्याओं का हल सम्भव नहीं है। हमें समस्याओं को हल करने की वास्तविक विधि ज्ञात होनी चाहिये।

शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि मनुष्य केवल विशुद्ध भक्ति के द्वारा ही जीवन की समस्यायें हल कर सकते हैं। ऐसा कौन कर सकता है? ऐसा साधारण मनुष्य नहीं वरन् केवल **वासुदेवपरायणाः** अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण (श्रीवासुदेव) के भक्त मात्र ही कर सकते हैं। जिनकी एकमात्र रुचि श्रीकृष्ण को सन्तोष देना है तथा जो विशुद्ध अव्यभिचारिणी भक्ति का आश्रय लेते हैं, केवल वे ही प्राणी जीवन की समस्याओं को हल कर सकते हैं।

अघं धुन्वन्ति—जैसे पूर्व में समझाया जा चुका है कि पापों के कारण समस्यायें उत्पन्न होती हैं। पर्याप्त भोजन होने पर भी लाभ उठाने के लिये या केवल संग्रह करने के उद्देश्य से, मनुष्य आवश्यकता से अधिक भोजन एकत्रित करता है। सन् १९४२ में देश में धन जोड़ने वालों एवं अनावश्यक संग्रह करने वालों के द्वारा कृत्रिम अकाल की स्थिति उत्पन्न कर दी गई थी। धनी लोगों ने १२ रु० किलो बिकने वाला चावल एकत्र कर लिया और अकस्मात् एक सप्ताह के भीतर

ही चावल का मूल्य १०० रु० किलो हो गया। फलस्वरूप, बाजार में चावल मिलना बन्द हो गया एवं लोगों को अत्यन्त कष्ट हुआ। उस समय उपस्थित एक अमेरिकन सज्जन ने कहा, "यदि हमारे देश में ऐसा अकाल पड़ता तो क्रान्ति हो जाती।" किन्तु, भारतवासियों की संस्कृति एवं उनको मिले प्रशिक्षण के कारण ऐसा कृत्रिम अकाल पड़ने पर भी उन्होंने क्रान्ति नहीं की अपितु शान्तिपूर्वक मरना पसन्द किया। निःसन्देह, यह केवल एक उदाहरण है परन्तु जो दर्शाता है कि समस्यायें भगवान् के द्वारा नहीं वरन् मनुष्यों के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। जर्मनी में प्रथम विश्व युद्ध के समय स्त्रियाँ चर्च गईं तथा भगवान् से प्रार्थना की, कि उन लोगों के पति, पुत्र तथा भाई सुरक्षित लौट आयें। परन्तु एक भी वापिस नहीं लौटा इस कारण सब स्त्रियाँ नास्तिक बन गईं। उन्होंने यह विचार नहीं किया कि भगवान् ने युद्ध तथा उसकी समस्याओं का समर्थन नहीं किया था। वे समस्याओं का हल निकालने के लिये भगवान् के समीप गई थीं। जब हम स्वयं अपनी समस्या उत्पन्न करते हैं तो उसका फल भी हमें ही तो भोगना पड़ेगा।

यह वास्तविकता है कि जो भी श्रीकृष्ण अर्थात् भगवान्, के शरणागत हो जाता है उसकी सब समस्यायें हल हो जाती हैं। अतः यदि किसी और उद्देश्य से नहीं तो केवल इसी कारणवश हमें भगवान् श्रीवासुदेव की भक्ति करनी चाहिये। **वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः** (भागवत १.२.७)। यदि कोई भगवान् श्रीवासुदेव की भक्ति करता है तो अविलम्ब सर्वोच्च ज्ञान लाभ करता है (**जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं**)। ज्ञान-वैराग्यं शब्दों का अर्थ है, "वह ज्ञान जिसके द्वारा मनुष्य सांसारिक प्रलोभनों से विरक्त हो जाता है।" ज्ञान और वैराग्य दोनों ही मानव जीवन में आवश्यक हैं। मनुष्य को यह ज्ञात होना चाहिये, "मैं आत्मा हूँ। मुझे इस भौतिक-जगत् से कुछ लेना-देना नहीं परन्तु अपनी विभिन्न वासनाओं के फलस्वरूप मैं एक देह से दूसरी देह में भ्रमण कर रहा हूँ। यह भ्रमण आरम्भ कब हुआ इसका

मुझे ज्ञान नहीं परन्तु यह अभी भी वर्त्तमान है ।" यह सच्चा ज्ञान है। ज्ञानी बनने के लिये अपनी वास्तविक स्थिति समझना एवं हम कैसे इस संसार में कष्ट भोग रहे हैं, यह अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान की यह सिद्धि तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य **वासुदेवपरायणः** बन जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता (७.१९) में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं :

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥

"अनेक जन्मान्तरों के अन्त में यथार्थ ज्ञानी मुझे सब कारणों का परम कारण और सर्व-व्यापक जानकर मेरी शरण में आता है। ऐसा महात्मा अति दुर्लभ है।" ऐसे महात्मा जो भली-भाँति यह जानते हैं कि श्रीकृष्ण (श्रीवासुदेव) प्रत्येक वस्तु के स्रोत हैं, अत्यधिक दुर्लभ हैं। लम्बी-लम्बी दाढ़ी मूँछें वाले नाम-मात्र के महात्माओं को पा लेना बहुत सहज है जो कहते फिरते हैं कि सभी लोग भगवान् से एक हैं तथा मृत्यु के पश्चात् वे जगेंगे एवं भगवान् बन जायेंगे। ये सच्चे महात्मा नहीं, किन्तु दुरात्मा हैं अर्थात् कठोर हृदय वाले, कारण ये भगवान् श्रीकृष्ण के यथार्थ पद की अनधिकार चेष्टा करके भगवान् में लीन हो जाना चाहते हैं। यदि कार्यालय का नौकर अपने स्वामी का पद ग्रहण करना चाहे तो क्या स्वामी इसको पसन्द करेगा ? उसी प्रकार जो भी भगवान् बनने का प्रयत्न कर रहा है वह भगवान् को बहुत प्रिय नहीं है। निःसन्देह, मनुष्य भगवान् बन ही नहीं सकता परन्तु उसका भगवान् बनने के लिये प्रयत्न करना या उनका प्रतिद्वन्द्वी बनना, भगवान् को प्रसन्नता नहीं देता है। श्रीमद्भगवद्गीता (१६.१९) में ऐसे व्यक्ति **द्विषतः** वर्णन किये गये हैं। भगवान् कहते हैं :

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥

"उन द्वेष करने वाले, दुराचारी तथा क्रूर नराधमों को मैं भव-

सागर में निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ।" इन व्यक्तियों को नारकीय दशा में इसलिये डाला जाता है क्योंकि वे भगवान् के पद से द्वेष रखते हैं। पहले तो वे इस संसार में ऊँचा पद प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, फिर प्रयास विफल होने पर सोचते हैं, " मैं अव भगवान् का पद ग्रहण करूँगा।" निःसंदेह, उनकी यह इच्छा भी विफल ही होती है क्योंकि कोई भी भगवान् बन नहीं सकता।

भगवान् सदैव भगवान् हैं, और जीव सदैव जीव है। भगवान् परम एवं विभु (अनन्त) हैं तथा हम अणु (क्षुद्र) हैं। हमारी स्वरूप स्थिति भगवान् की सेवा करना है और जब हम इसके अनुसार कार्य करते हैं तो हम सुखी हो जाते हैं। भगवान् के अनुकरण (नकल) से सुख नहीं मिल सकता। **यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः** (ब्र. सं. ५.४८), असंख्य ब्रह्माण्ड, श्रीमहा विष्णु की एक श्वाँस में भीतर जाकर उनके शरीर में लय हो जाते हैं। फिर एक जीव किस प्रकार भगवान् वन सकता है? भगवान् इतनें सस्ते नहीं हैं। इसलिये हमें अपने ज्ञान की वृद्धि करके श्रीवासुदेव (श्रीकृष्ण) को परतत्त्व के रूप में अवश्य स्वीकार करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण के साधारण जीव होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस संसार में अपने प्राकट्य काल के अन्तर्गत किसी भी अवस्था में वे सामान्य जीव नहीं प्रतीत हुए। शिशु के रूप में भी उन्होंने परम् अद्-भुत कर्म किये जो साधारण जीवात्मा की सामर्थ्य से अत्यधिक परे हैं।

हम यह न सोचें कि श्रीकृष्ण के शरणागत होना साधारण मनुष्य का आश्रय लेने के समान है। श्रीकृष्ण की शरण स्वयं-भगवान् की शरण है। निश्चय ही इसे समस्त वैदिक साहित्य में प्रमाणित किया गया है—**अघं धुन्वन्ति**—श्रीकृष्ण की शरण लेने से सब प्रकार के पाप भस्म हो जाते हैं। भगवद्गीता (१८.६६) में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं, साक्षात् रूप से उनकी शरण में आने का परामर्श देते हैं :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"सब प्रकार के धर्मों का त्याग कर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो, बदले में सम्पूर्ण पापों से मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। अतः तुम कुछ भय मत करो।"

अतः जो भक्त हैं(**वासुदेव परायणः**)तथा केवला भक्ति में संलग्न हैं वे तत्काल ही सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं। श्रीकृष्णभावनामृत अर्थात् कृष्ण-भक्ति कभी भी किसी प्रकार के मनोधर्म से नहीं अपितु केवल शुद्ध भक्त की अहैतुकी करुणा मात्र से ही प्राप्त हो सकती है। पतित जीवों के प्रति दयावश महात्माओं के द्वारा प्रदान की जाने वाली यह एक अनुपम भेंट है। यह कहा जाता है कि श्रीकृष्ण की कृपा से गुरु प्राप्त होते हैं और गुरु महाराज के प्रसाद से कृष्ण-कृपा की प्राप्ति होती है। यह सूर्योदय की भेंट के सदृश है। रात्रि में अन्धकार रहता है पर सूर्य के उदय होते ही लाखों मील तक विस्तृत अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार यदि हम अपने हृदय में श्रीकृष्ण-रूपी सूर्य को उदय कराने का प्रयत्न करें तब हमारी सम्पूर्ण समस्यायें हल हो जायेंगी।

७

अनुपम भेंट : कृष्ण-भक्ति के द्वारा मुक्ति

यदि हम केवल आदिपुरुषं का भजन करें तब हमें किसी से भी भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। श्रीमद्भागवत के मौलिक टीकाकार श्री श्रीधर स्वामी व्याख्या करते हैं, केवल भक्ति करने मात्र से ही जीवन की पूर्णता प्राप्त हो सकती है (**केवलया भक्त्या**); किसी अन्य विधि पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं। शुकदेव गोस्वामी कहते हैं कि केवल एक ही बार से मनुष्य इस भौतिक-जीवन के चक्र का अन्त कर सकता है (**केवलया**)। कठोर तपस्या, ब्रह्मचर्य का पालन, मन एवं इन्द्रिय पर निग्रह, दान, यज्ञ, सत्य एवं शुचि बनने के पूर्वाभ्यास की कोई भी आवश्यकता नहीं है। केवल एक ही विधि—कृष्ण-भक्ति का आश्रय लेते ही मनुष्य तत्काल सर्वोच्च स्थिति प्राप्त कर लेता है। श्रीकृष्णभावनामृत ग्रहण करने से स्वत: समस्त दिव्य गुणों का विकास हो जाता है। स्वर्णकार छोटी हथौड़ी का प्रयोग कर स्वर्ण को अनेक बार ठोकता है वहीं लोहार बड़े हथौड़े का प्रयोग करता है और एक ही आघात में उसका कार्य समाप्त हो जाता है। श्रीकृष्णभावनामृत लोहार की विधि है : भक्तियोग के बड़े हथौड़े से भव रोग का अन्त हो जाता है। दूसरे विधि-नियमों एवं कम महत्वपूर्ण अनुशासनों का पालन करने की कोई भी आवश्यकता

नहीं है। वास्तव में, अन्य वैदिक विधियों की पूर्णता तक भी पहुँच पाना भी सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थं हठयोग कहता है: "तुम्हें कट्टर ब्रह्मचारी बनना पड़ेगा और वन में जाकर धरती के साथ समकोण बनाते हुये आसन पर बैठ नासिका को दबाकर छः माह अभ्यास करना होगा।" इन निर्देशों का कौन पालन कर सकता है? यह विधि वर्त्तमान युग में व्यवहारिक ही नहीं है अतः स्वर्णकार वाली विधि को अस्वीकार करना है। कृष्ण-भक्ति का बड़ा हथौड़ा लेकर पापों को तत्काल नष्ट कर देना ही यथार्थ हल है।

भक्ति के द्वारा हमें **वासुदेवपरायणः**—अर्थात् भगवान् श्री वासुदेव (श्रीकृष्ण) का भक्त बनना है। दूसरे शब्दों में, हमको श्री वासुदेव से प्रेम करना सीखना है। यदि विश्व इस श्रीकृष्णभावनामृत को ग्रहण कर ले तो निश्चय ही सम्पूर्ण पृथ्वी शान्तिपूर्ण बन जायेगी। इस समय पृथ्वी बहुत शीघ्रता से नरक बनती जा रही है और यदि कृष्ण-भक्ति का आश्रय नहीं लिया गया तो शिक्षा एवं आर्थिक विकास में उन्नति होने के पश्चात् भी ये नारकीय दशायें बढ़ती जायेंगी। इसलिये जो विचारशील हैं उनको इस हरे कृष्ण आन्दोलन को अत्यन्त गम्भीरता के साथ ग्रहण कर इसके मूल्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। यह किसी एक मनुष्य अथवा कुछ शिष्यों के वर्ग के द्वारा रचित नहीं है। यह हजारों वर्ष पूर्व के वैदिक साहित्यों पर आधारित एक प्रमाणिक एवं युग-प्राचीन आन्दोलन है।

नीहारमिव भास्करः। भास्कर अर्थात् सूर्य, कोहरा, धुन्ध तथा अन्धकार का तत्काल ही नाश करता है। जैसे पूर्व में कहा जा चुका है, हम अपने हृदय में श्रीकृष्णरूपी सूर्य को उदय कराने का प्रयत्न करें। श्री श्री चैतन्यचरितामृत (अध्याय २२.३१) में भी आता है कि श्रीकृष्ण सूर्य हैं और माया अन्धकार। **याहाँ कृष्ण, ताहाँ नाहि मायार अधिकार**—जैसे ही श्रीकृष्ण रूपी सूर्य उदय होते हैं वैसे ही माया रूपी अन्धकार तत्काल नष्ट हो जाता है। इस विधि का

पालन किये बिना अन्धकार रूपी माया के समुद्र को पार करना बहुत कठिन है। यदि केवल हम, लोगों को श्रीकृष्ण की शरण में जाना सिखायें तो अज्ञानरूपी कोहरे का पूर्णरूप से अन्त हो जायेगा। विधि बहुत ही सरल है:

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥

—का कीर्त्तन कीजिये। मनुष्य जितना अधिक कीर्त्तन करता है, उतना ही अनेकानेक जीवनों का अन्धकार नष्ट होता है। **चेतोदर्पण-मार्जनम्**—कीर्त्तन के द्वारा चित्तरूपी दर्पण (शीशा) को स्वच्छ कर वस्तुओं को यथार्थ दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य जान सकता है कि वह कौन है, भगवान् कौन हैं, हमारा भगवान् के साथ क्या सम्बन्ध है, यह संसार क्या है, इसमें किस प्रकार रहना है और हमारा अगला जीवन क्या होगा। यह ज्ञान विद्यालयों में नहीं दिया जाता है, जहाँ इन्द्रियतृप्ति के साधनों के निर्माण एवं प्राप्ति की शिक्षा मिलती है।

मनुष्य प्रकृति के ऊपर प्रभुता स्थापित करने के प्रयास में सदैव कठिन संघर्ष करता रहता है। किन्तु, किसी प्रकार से उत्पन्न की गई इन सुविधाओं के साथ असुविधायें भी खड़ी होती जाती हैं। उदाहरण के लिये, कुछ समय पूर्व यन्त्रियों (इन्जीनियर) ने एक ऐसे वायुयान का निर्माण किया जो बिना किसी संकट अत्यन्त गति के साथ उड़ सकता है। किन्तु, उड़ते समय यह नगर की खिड़कियों को तोड़ डालता है। इस प्रकार अनुपात के अनुसार उत्पन्न असुविधाओं के मूल्य पर, अस्थायी एवं कृत्रिम सुविधाओं के अनेक साधनों के निर्माण करने में ही हमारा समय व्यर्थ जाता है। यह सब कर्मबन्धन अर्थात् क्रिया एवं प्रतिक्रिया के नियम हैं। जो कुछ भी हम करते हैं उसके फल से हम अवश्य बन्धन में फँसते हैं। इसे भगवद्गीता (३.९) में कहा गया है:

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

"श्री विष्णु के लिये यज्ञरूप में कर्म करना अनिवार्य है अन्यथा इस संसार में कर्मबन्धन होता है। इसलिये हे कौन्तेय ! श्री विष्णु की प्रसन्नता के लिये कर्म का आचरण करो इस प्रकार करने से तुम नित्य अनासक्त तथा बन्धन-मुक्त रहोगे।" जब मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के लिये अच्छा या बुरा—कर्म करता है तो वह बन्धन है। परन्तु यदि श्रीकृष्ण के लिये कार्य किया जाय (**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र**) तो वह मुक्त हो जायेगा चाहे कर्म कैसा भी हो।

न केवल शुकदेव गोस्वामी विशुद्ध भक्ति करने की सलाह देते हैं वरन् वे आगे कहते हैं कि भक्ति के द्वारा मनुष्य के सारे पाप भस्म हो जाते हैं। हममें से प्रत्येक कम या अधिक मात्रा में पापी है क्योंकि यदि हम लोग पापी न होते तो इस भौतिक शरीर में डाले ही न जाते। जैसे ही मनुष्य पाप कार्यों को त्याग देता है वह मुक्त हो अप्राकृत शरीर प्राप्त कर वैकुण्ठ-जगत् में प्रवेश करता है। इस सम्पूर्ण विधि का उद्देश्य ही मनुष्य को पापी अथवा भौतिक जीवन के दोष से छुटकारा दिलाना है।

शुकदेव गोस्वामी कहते हैं; "प्रिय राजन्, जो पापी हैं वे तपस्या के द्वारा(**तपादिभिः**)दोषों से शुद्ध हो सकते हैं। श्री शुकदेव जी यह भी कहते हैं कि कोई भी तपस्या के द्वारा पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं हो सकता। ऐसे योगियों के अनेक उदाहरण हैं जिन्होंने तपस्या की परन्तु वे पूर्ण शुद्ध नहीं बन सके। विश्वामित्र मुनि, उदाहरण के लिये क्षत्रिय थे परन्तु वे ब्राह्मण बनना चाहते थे इसलिये उन्होंने तपस्या करना आरम्भ किया। किन्तु, बाद में वे स्वर्ग की अप्सरा मेनका के आकर्षण में फँस गये। विश्वामित्र शुद्ध नहीं थे अतः उन्होंने मेनका से सन्तान उत्पन्न की। अतः यह भी कहा गया है कि तपस्या करते रहने पर भी, सांसारिक आकर्षण इतना जटिल है कि जीव

किसी न किसी प्रकार प्रकृति के गुणों में बारम्बार फँस ही जाता है। ऐसे संन्यासियों के भी कई उदाहरण हैं जो संसार को मिथ्या जानकर त्याग देते हैं और कहते हैं, "मैं ब्रह्म की ओर उन्मुख हूँ।" परन्तु वे पुनः संसार के कार्यों में फँसकर चिकित्सालय खोलने एवं परोपकार तथा समाज-कल्याण करने में लग जाते हैं। यदि जगत् मिथ्या है तो वे जन कल्याण कार्यों के प्रति आकर्षित ही क्यों होते हैं? श्रीकृष्णभावनामृत के दर्शन के अनुसार यह जगत् मिथ्या नहीं वरन् अस्थायी है। भगवान् ने इस संसार की सृष्टि की और वे सत्य हैं तब फिर उनकी सृष्टि कैसे मिथ्या हो सकती है? क्योंकि यह जगत् भगवान् की सृष्टि है और वे परम सत्य हैं इसलिये यह जगत् भी सत्य है। हम केवल अज्ञान-वश इसको दूसरे दृष्टिकोण से देखते हैं। जगत् तथ्य है परन्तु यह अस्थायी तथ्य है।

मनुष्य भले ही संसार की वस्तुओं को अपनी सम्पत्ति मानने का दावा करे परन्तु यह दावा झूठा है। वास्तव में यह किसी की सम्पत्ति तो अवश्य है अर्थात् यह भगवान् की सम्पत्ति है (**ईशावास्य-मिदं सर्वं**)। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि सम्पत्ति ही मिथ्या है। यह दावा मिथ्या है जो कि इस अवास्तविक भावना पर आधारित है कि मनुष्य सम्पत्ति का अधिकारी, स्वामी अथवा भगवान् है। सभी की इच्छा होती है कि पहले वह स्वामी या किसी प्रकार की सम्पत्ति का अधिकारी बने, फिर मन्त्री फिर राष्ट्रपति तथा फिर अन्त में भगवान् ही बन जाय। जब सभी कुछ विफल हो जाता है तब जीव भगवान् बनना चाहता है। प्रवृत्ति तो यह है कि सबसे महान् बना जाये परन्तु वास्तविकता तो वास्तविकता ही रहती है कि भगवान् महानतम हैं और जीव उनकी तुलना में लघु है। न लघुत्तम मिथ्या है और न ही महत्तम परन्तु जब क्षुद्र जीव सोचने लगता है कि वह महान् है तो ऐसा सोचना झूठा है।

वैदिक साहित्य से हम समझते हैं कि ब्रह्म अर्थात् आत्मा अणो-

रणीयांसम् अर्थात् परमाणु से भी लघु और **महतोमहीयांसम्** महान् में भी महान् है। हम धारणा बना सकते हैं, यह आकाश महानतम है जिसके कि भीतर पूरा ब्रह्माण्ड है परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुख में लाखों ब्रह्माण्ड दिखाये थे। भगवान् की महानता जीवों की बुद्धि से परे है। जीवात्मा भगवान् का भिन्न-अंश है। जीव होने के कारण हम अत्यधिक क्षुद्र एवं अणु हैं और भगवान् विभु तथा अनन्त हैं। वास्तव में, आत्मा का परिमाण इतना सूक्ष्म है कि इसे देखा नहीं जा सकता। हम अपनी प्राकृत इन्द्रियों से इसकी कल्पना नहीं कर सकते। अतएव कहा गया है कि जीवात्मा परमाणु से भी लघु है **अणोरणीयांसम्**। जीव एवं परम ईश्वर श्रीकृष्ण दोनों ही अप्राकृत हैं चिन्मय हैं इसलिये गुण की दृष्टि से एक हैं। किन्तु, परिमाण की दृष्टि से भगवान् महान् हैं तथा जीव लघु है। इस तथ्य को वैदिक जानकारी के आधार पर तत्काल ही स्वीकार किया जा सकता है। ब्रह्म संहिता (५.४८) में आता है, **यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य जीवन्ति लोम-विलजा जगदण्डनाथाः**—भगवान् के निश्वास में लाखों ब्रह्माण्ड बाहर आते हैं और उनकी श्वास के साथ वे पुनः अप्रकट हो जाते हैं। केवल उनकी श्वास-प्रति-श्वास के द्वारा लाखों ब्रह्माण्डों का निर्माण एवं प्रलय होता है। अब यदि ऐसा है तब फिर एक जीव प्रत्येक वस्तु का स्वामी होने का दावा कैसे कर सकता है। हमारी स्थिति तभी तक सुरक्षित है जब तक हम भगवान् या स्वामी होने की मिथ्या घोषणा नहीं करते। भगवान् होने का दावा करना तो एक फैशन बन गया है और लोग इतने मूर्ख हैं कि ऐसे दावे को मान भी लेते हैं। परन्तु वैदिक साहित्य के द्वारा हम समझ सकते हैं कि भगवान् इतने सस्ते नहीं हैं।

जब तक हम ये गर्वीले दावे नहीं करते, तब तक हम पहले से ही मुक्त हैं। वास्तव में मुक्ति की खोज करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। परन्तु जब तक मनुष्य यह सोचता रहता है, "मैं यह देह

हूँ," तब तक वह मुक्त नहीं है। मुक्ति का अर्थ है यह भली-भाँति जानना कि आत्मा और देह पृथक् हैं। अतः शुकदेव गोस्वामी कहते हैं **प्रायश्चित्तं विमर्शनम्**—"अपने ज्ञान का विकास करो; जिससे तुमको पीड़ा से मुक्ति मिलेगी।" हमारा ज्ञान तभी पूर्ण है जब यह पता लग जाय कि हम अत्यधिक छोटे चित्कण हैं और भगवान् परम तथा महानतम आध्यात्मिक विग्रह हैं जो हमारी सब आवश्यकतायें प्रदान कर रहे हैं (**एको बहूनां यो विदधाति कामान्**)। इस ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा कि हम भगवान् के अत्यन्त क्षुद्र भिन्न-अंश हैं हम समझ सकते हैं कि हमारा कर्त्तव्य भगवान् की सेवा करना है। भगवान् सृष्टि के, सम्पूर्ण विराट रूप के केन्द्र हैं; वे भोक्ता हैं और हम सब उनके दास। जब यह धारणा स्पष्ट हो जाती है तब हम मुक्त हो जाते हैं।

मुक्ति का लक्ष्य है सब प्रकार की मिथ्या धारणाओं से छुटकारा पाना। यह नहीं कि मुक्त होने पर हमारे दस हाथ हो जायेंगे। श्रीमद्भागवत (२.१०.६) में मुक्ति की परिभाषा दी गई है **मुक्तिर्हित्वान्यथारूपम्** अर्थात् मिथ्या धारणाओं को त्यागना। इस प्रकार सब उपाधियों को त्याग कर मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप में जब स्थित होता है तब वह मुक्त हो जाता है। श्रीमद्भागवत में यह भी कहा गया है कि हम ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा तत्काल ही मुक्त हो सकते हैं। वह ज्ञान बहुत सरलता से प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि यह सहज है : भगवान् महान् हैं, और मैं बहुत क्षुद्र हूँ; वे सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने वाले सर्वोच्च स्वामी हैं तथा मैं उनका दास हूँ। इसको कौन चुनौती दे सकता है ? यह वास्तविकता है। हम केवल मिथ्या ही यह सोचते रहते हैं कि हम यह हैं, हम वह हैं और जिसका परिणाम निकलता है कि हम उस मिथ्या भावना की सर्वोच्चता को प्राप्त करते हैं कि हम स्वयं ही भगवान् हैं। फिर भी हम विचार नहीं करते कि हम कैसे भगवान् हैं ? एक छोटी सी शारीरिक अव्यवस्था ही हमें चिकित्सक के पास भेज देती है। इसलिये जो सर्वोच्च (भगवान्) होने

का दावा करता है उसको माया के आखिरी फन्दे में फँसा हुआ मानना चाहिये। ऐसे पतित जीव मुक्त नहीं हो सकते क्योंकि वे मिथ्या धारणा के बन्धन में हैं।

केवल उचित ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् ही यथार्थ में मुक्ति होती है। मुक्ति की वह अवस्था ब्रह्मभूतः अवस्था भी कहलाती है। जिसने यह अवस्था प्राप्त कर ली है उसकी विशेषता भगवान् श्रीकृष्ण भगवद्-गीता (१८.५४) में इस प्रकार वर्णन करते हैं :

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। वह कभी भी न तो शोक करता है और न ही किसीकी इच्छा। सब प्राणियों में वह समभाव रखता है और इस अवस्था में उसे मेरी शुद्ध भक्ति की प्राप्ति होती है।" साक्षात्कार के पश्चात् प्रसन्नता की प्राप्ति का कारण यह ज्ञान है, "मैं अब तक मिथ्या धारणाओं से मोहित था। कैसा मूर्ख था मैं ? मैं सोच रहा था कि मैं भगवान् हूँ परन्तु अब मैं समझ सकता हूँ कि मैं भगवान् का नित्य दास हूँ।" इस प्रकार का साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य मुक्त होता है एवं 'प्रसन्नात्मा' बनता है क्योंकि जीव का वास्तविक स्वरूप तो यही है।

शुद्ध भाव की अवस्था में शोक नहीं है क्योंकि मनुष्य को ज्ञात रहता है कि वह परम-ईश्वर श्रीकृष्ण के द्वारा रक्षित एक क्षुद्र चित्कण है। तब शोक करने का अवकाश ही कहाँ है ? एक छोटा सा शिशु, जब तक यह जानता है कि उसके पिता निकट हैं तब तक वह अपने को मुक्त अनुभव करता है। वह सोचता है, "मेरे पिता साथ में हैं अतः मैं मुक्त हूँ। मुझे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता।" उसी प्रकार जब मनुष्य श्रीकृष्ण को आत्म-निवेदन कर देता है तो उसको पूर्ण विश्वास रहता है कि कोई संकट नहीं है क्योंकि श्रीकृष्ण उसकी रक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण के शरणागत हुआ जीव शोक या कामना में

प्रभावित नहीं होता जबकि जो मनुष्य भगवद्‌भक्त नहीं है उसका समय शोक एवं आकांक्षा करने में ही व्यतीत होता है। जो वस्तु उसके पास नहीं है उसके लिये तो वह कामना करता है और खो जाने वाली वस्तुओं के लिये शोक करता है। भगवान् के भक्त इस प्रकार के दुखों से प्रभावित नहीं होते। यदि कोई वस्तु नष्ट हो जाती है तो वे जानते हैं कि यह भगवद्-इच्छा है तथा सोचते हैं, "भगवान् ने ऐसा ही चाहा अतः यह बिल्कुल ठीक हुआ।" वे किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं करते क्योंकि उन्हें ज्ञात रहता है कि परम पिता श्रीकृष्ण उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर ही रहे हैं।

जैसे ही मनुष्य भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वैसे ही उसको विश्व-व्यापी भ्रातृत्व का साक्षात्कार हो जाता है। वह समझता है कि सभी मनुष्य तथा पशु—वास्तव में, सम्पूर्ण जीव मात्र—भगवान् के अंश हैं अतः वे समान हैं। इस दृष्टि-कोण के कारण मनुष्य दूसरे प्राणियों से द्वेष, उनका शोषण और उनको कष्ट नहीं देता। इस प्रकार कृष्ण-भक्त अपने आप ही समस्त सद्‌गुणों का विकास कर लेते हैं क्योंकि वे यथार्थ चेतना में स्थित हैं। **हराव-ऽभक्तस्य कुतो महद्‌गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः** (भागवत ५.१८.१२)। जिन्होंने भी श्रीकृष्णभावनामृत का विकास कर लिया है उनमें स्वतः दैवी गुण व्यक्त हो जायेंगे। वास्तव में, यह कहा जाता है, **वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च**— वैष्णव अर्थात् कृष्ण-भक्त दूसरों के लिये दया के सागर होते हैं। वे समाज को अमूल्य दान देते हैं क्योंकि समाज को भगवद्‌भावना की घोर आवश्यकता है।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे॥

वैष्णव, महामन्त्र की अनुपम भेंट प्रदान करते हैं। इस महा-मन्त्र का केवल कीर्त्तन करने मात्र से ही मनुष्य मुक्त अवस्था में रह सकता है।

हमें किन्तु, यह नहीं सोचना चाहिये कि यह अवस्था केवल ऐसी समाधि है जिसमें एक कोने में पद्मासन लगा कर दिन भर बैठे रहा जाता है। नहीं, मुक्ति का अर्थ है सेवा करना। हम केवल यह नहीं कह सकते, "अब मैंने अपना जीवन श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया है अतः मैं समाधि लगाकर बैठ सकता हूँ।" समर्पण का स्तर सेवा के द्वारा अवश्य बनाये रखे (निसेवया)। जब मनुष्य भगवान् की सेवा करता है तब उसके हृदय में वे स्वयं को प्रकाशित कर देते हैं। भगवान् की भक्ति प्रातःकाल से रात्रि तक की जाती है। वास्तव में, श्रीमद्भगवद्गीता में तो भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मनुष्य को दिन में चौबीसों घण्टे ही कृष्ण-भक्ति करनी चाहिये। यह नहीं कि हम पन्द्रह मिनिट ध्यान करें और फिर विविध मूर्खतापूर्ण कार्यों एवं विचारों में समय बितायें। जितनी अधिक हम सेवा करेंगे उतना ही हम श्रीकृष्ण को समर्पण कर सकेंगे; इसलिये जिसके पास जो भी विशेष गुण हों उनका सदुपयोग श्रीकृष्ण के लिये करे। नौ प्रकार की भक्ति होती है (नवधा भक्ति)— (१) श्रवण (२) कीर्त्तन (३) स्मरण (४) पाद सेवन (चरण सेवा करना) (५) अर्चन (मन्दिर में श्रीमूर्त्ति की पूजा) (६) वन्दन (७) दास्य (आज्ञा पालन) (८) सख्य (भगवान् की सखा के रूप में सेवा) (९) आत्म-निवेदन (श्रीकृष्ण के लिये सब कुछ बलिदान कर देना)। हमें इन नौ विधियों में कम से कम एक में, सदैव संलग्न रहना चाहिये। जो हमेशा श्रीकृष्ण की भक्ति करते रहते हैं वे कभी खिन्न नहीं होते (भजतां प्रीतिपूर्वकम्)। सेवा अवश्य प्रेममयी होनी चाहिये परन्तु हो सकता है आरम्भ में ऐसा करने में कठिनाई लगे इसलिये मनुष्य उदास या खिन्न रह सकता है। परन्तु जैसे-जैसे वह कृष्ण-सेवा में प्रगति करता जाता है, यह सुखकर एवं आनन्ददायक लगने लगती है। इसको भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्-भगवद्गीता (१८.३७) में दर्शाया है :

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

"ऐसा सुख जो पहले विष जैसा लगता है परन्तु परिणाम में अमृत के समान होता है तथा जिससे आत्म-साक्षात्कार की जाग्रति होती है उसे सात्त्विक सुख कहा जाता है।"

जब एक बार आध्यात्मिक स्तर की प्राप्ति हो जाती है तब वास्तव में सांसारिक सेवा उदासी का ही कारण बनती है। उदाहरण के लिये, हरे कृष्ण महामन्त्र का सम्पूर्ण जीवन भर कीर्त्तन और जप करने पर भी इन नामों से मनुष्य थकता नहीं है और वहीं यदि एक प्राकृत नाम को बारम्बार कहा जाय तो शीघ्र ही मनुष्य ऊब जाता है। जितना अधिक हम कृष्ण-नाम का कीर्त्तन करते हैं उतनी ही नाम में आसक्ति होती जाती है। इस प्रकार श्रीकृष्ण की श्रवण तथा कीर्त्तन द्वारा सेवा करना, हमारी सेवा का आरम्भ है। अगली भक्ति (विधि) है स्मरणं–सदा ही श्रीकृष्ण का स्मरण करना। जब मनुष्य श्रवण एवं कीर्त्तन में सिद्ध हो जाता है तब वह सदैव कृष्ण-स्मरण में मग्न रह सकता है। इस तृतीय अवस्था में वह महानतम योगी बन जाता है।

कृष्ण-भक्ति का कभी नाश नहीं होता। भौतिक-जगत् में यदि कोई एक कारखाना (फैक्ट्री) बनाना आरम्भ करता है परन्तु निर्माण पूरा नहीं करता तो उद्देश्य अथवा लक्ष्य की दृष्टि से कारखाना व्यर्थ है। यदि निर्माण बन्द कर दिया जाता है और भवन अधूरा है तो जो कुछ भी धन लगाया गया वह व्यर्थ हो जाता है। कृष्ण-भक्ति के साधन में ऐसा नहीं होता क्योंकि यदि कोई सिद्धावस्था तक न पहुँच सके तो भी उसके द्वारा की गई भक्ति स्थायी रूप से लाभदायक है। अगले जीवन में वह पूर्व-प्राप्त स्तर से प्रगति करता है। भगवान् श्रीकृष्ण भी भगवद्गीता (२.४०) में प्रमाणित करते हैं कि कृष्ण-भक्ति आरम्भ करने वालों का किसी प्रकार से भी नाश नहीं हो सकता :

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

"कृष्ण-भक्ति का जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता है और न ही क्षय । इस पथ में की गई अल्प प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर लेती है ।"

श्रीमद्भगवद्गीता के छठें अध्याय में अर्जुन ने जब असफल योगी के भाग्य के विषय में प्रश्न पूछा तो भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा :

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

"हे पार्थ, कल्याणकारी कर्म करने वाले योगी का इस लोक अथवा परलोक में भी विनाश नहीं होता । हे सखे, सदाचारी का कभी अमंगल नहीं होता ।" (गीता ६.४०)

तत्पश्चात् भगवान् कहते हैं, योग-भ्रष्ट जीव अगले जीवन में अपनी कृष्ण-भक्ति का आरम्भ उसी स्तर से करता है जिस स्तर पर उसकी भक्ति छूटी थी । दूसरे शब्दों में, किसी ने विधि का पचास प्रतिशत अंश ही पूरा किया हो तो अगले जन्म में वह इक्यावन प्रतिशत से भक्ति आरम्भ करेगा । किन्तु, इस जीवन में एकत्र की हुई सब सांसारिक सम्पत्ति मृत्यु के समय नष्ट हो जाती है क्योंकि हम सांसारिक ऐश्वर्य अपने साथ नहीं ले जा सकते ।

हमें किन्तु, यह भी नहीं सोचना चाहिये कि कृष्ण-भक्ति की प्राप्ति के लिये अगले जन्म की प्रतीक्षा करना अच्छा रहेगा । हमें इसी जीवन में कृष्ण-भक्ति में सिद्धि प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये । भगवान् श्रीकृष्ण प्रतिज्ञा करते हैं कि जो उनका भक्त बन जाता है वह निश्चय ही उनको प्राप्त करता है :

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

"मन से नित्य-निरन्तर अनन्यभाव से मेरा चिन्तन करो । मेरा ही पूजन करो और अतिशय प्रेम सहित मुझको प्रणाम करो ।

परिणाम-स्वरूप तुम निश्चय ही मुझको प्राप्त करोगे। मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय सखा हो।" (गीता-१८.६५)।

जब हम श्रीकृष्ण को प्राप्त करना कहते हैं तो यह नहीं सोचना चाहिये कि इसका अर्थ है कि हम शून्य अथवा निराकार श्वेत ज्योति के सामने खड़े रहेंगे। श्रीकृष्ण अर्थात् भगवान्, पुरुषोत्तम हैं ठीक उसी प्रकार जैसे कि हम लोग व्यक्ति हैं। भौतिक दृष्टि से हम समझ सकते हैं कि हमारे पिता व्यक्ति हैं, उनके पिता भी व्यक्ति हैं, उनके पिता के पिता व्यक्ति हैं, इसी प्रकार अन्त में परम पिता भी व्यक्ति होने चाहिये। यह समझना कोई बहुत कठिन नहीं है और ध्यान देने योग्य विशेष बात तो यह है कि भगवान् को न केवल वेदों में वरन् बाइबिल, कुरान तथा अन्य धर्म ग्रन्थों में भी परम पिता कहकर पुकारा जाता है। वेदान्त-सूत्र भी सिद्ध करते हैं कि परम सत्य मूल पिता हैं जिनसे प्रत्येक वस्तु का जन्म अथवा उत्पत्ति हुई है। वेदों में भी यह प्रमाणित किया गया है : **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्।** "भगवान् नित्यों में परम नित्य तथा चेतन (जीव) में परम चेतन हैं। वे सबका पालन कर रहे हैं।" जीवों के द्वारा प्रदर्शित इच्छायें तथा जीवन के लक्षण, परम पिता की इच्छाओं एवं जीवन के लक्षणों के प्रतिविम्ब मात्र हैं। दूसरे शब्दों में, हमारे भीतर इच्छाओं का जन्म इसीलिये हुआ क्योंकि भगवान् में इच्छायें हैं। हम भगवान् के भिन्न-अंश हैं अतएव हममें भगवान् की सब प्रवृत्तियाँ हैं परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म रूप में। यह काम भाव का प्रदर्शन जो इस भौतिक-जगत् में देखा जाता है वह वैकुण्ठ-जगत् में पाये जाने वाले प्रेम का विकृत प्रतिविम्ब है। यह संसार प्राकृत (भौतिक) है क्योंकि यहाँ भगवान् को भुला दिया गया है परन्तु एक बार भगवद्स्मृति होते ही यह जगत् अप्राकृत बन जाता है। दूसरे शब्दों में, वैकुण्ठ-जगत् वह स्थान है जहाँ श्रीकृष्ण को भूला नहीं जाता। वैदिक

साहित्य में दी गई वैकुण्ठ-जगत् की परिभाषा भी यही है। अतः अपना जीवन हम इस प्रकार बनायें कि हमारे लिये श्रीकृष्ण को भूलना एक पल के लिये भी सम्भव न हो। इस प्रकार श्रीकृष्ण की सेवा के द्वारा हम वैकुण्ठ अथवा भगवान् श्रीकृष्ण के धाम श्री वृन्दावन में सदैव वास करेंगे।

वर्त्तमान में अपनी दूषित चेतना के कारण हम विश्व को सांसारिक एवं नारकीय स्थान में वदले दे रहे हैं। हमें अपने वास्त-विक स्वरूप का ज्ञान नहीं है इसीलिये हमने असंख्य समस्याओं का निर्माण कर लिया है, जिस प्रकार कि हम स्वप्न में अनेक समस्याओं की रचना कर लेते हैं। परन्तु वास्तव में कोई समस्यायें हैं नहीं। स्वप्न में हम भले ही देखें कि हम भयंकर तूफान में हैं, हमारा पीछा किया जा रहा है, कोई हमारा धन छीने ले रहा है या शेर हमारा भक्षण कर रहा है परन्तु यथार्थ में ये सब मन की सृष्टि है। **असंगो हि अयं पुरुष इति श्रुतेः**। वेद कहते हैं, पुरुष अर्थात् आत्मा का इन स्वप्न-वत् भौतिक कार्यों से कोई सम्वन्ध नहीं है। अतः इस स्वप्ना-वस्था से जागने के लिये हमें श्रीकृष्णभावनामृत विधि में संलग्न होना आवश्यक है।

समस्त सकाम कर्मी, ज्ञानी और योगियों से कृष्ण-भक्त श्रेष्ठ हैं। भक्त पूर्ण रूप से शान्त रह सकते हैं जबकि दूसरे ऐसे नहीं वन सकते क्योंकि विशुद्ध प्रेमी भक्त के अतिरिक्त सभी में कामनायें होती हैं। शुद्ध भक्त निष्काम हैं क्योंकि वे केवल श्रीकृष्ण की सेवा करने मात्र से सुखी रहते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् हैं या नहीं इसकी भी उन्हें चिन्ता नहीं रहती; वे श्रीकृष्ण से केवल प्रेम करना चाहते हैं। न ही वे इस तथ्य से सम्वद्ध रहते हैं कि श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् हैं,सर्वव्याप्त हैं इत्यादि। श्रीवृन्दावन में गोपीजन एवं गोपवालक यह नहीं जानते थे कि श्री-कृष्ण भगवान् थे या नहीं परन्तु उनका श्रीकृष्ण से प्रगाढ़ प्रेम था। यद्यपि वे लोग वेदान्ती, योगी अथवा कर्मी नहीं थे परन्तु वे सुखी थे

क्योंकि साधारण ग्रामीण वालिका तथा वालक होते हुये भी उनमें श्रीकृष्ण के दर्शनों की अभिलाषा कूट-कूट कर भरी थी। यह अत्यधिक उन्नत (सिद्ध) अवस्था है जिसे **सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्** (नारद पंचरात्र) कहा जाता है अर्थात् निर्मलता की वह अवस्था जब मनुष्य सब प्रकार की सांसारिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है।

यद्यपि योगी और ज्ञानी भगवान् को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं फिर भी उनको अपनी भ्रमपूर्ण परिस्थिति का पता नहीं है। **मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्** : वे मूर्ख हैं क्योंकि मायिक सुख पाने के लिये इतना कठिन परिश्रम कर रहे हैं। उनको शान्ति मिलने का प्रश्न ही नहीं है। ज्ञानी इस भौतिक-जगत् के घोर कर्मों से राहत पाने के लिये इस भौतिक-जगत् का त्याग करते हैं (**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**)। उनकी स्थिति कर्मियों से श्रेष्ठ है क्योंकि कर्मी लोगों ने इस जगत् को ही सर्व-सर्वा मान रक्खा है। वे कहते हैं, "यहाँ ही हम सुखी रहेंगे," और उनका धर्म है इस भौतिक-जगत् में शान्तिपूर्ण वातावरण वनाने का प्रयत्न करना। ये मूर्ख नहीं जानते कि लाखों वर्ष से इसका प्रयत्न किया जा रहा है परन्तु ऐसा न कभी हुआ है और न ही होगा। इस संसार में शान्ति कैसे सम्भव है जवकि इसके सृष्टिकर्त्ता भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि यह स्थान कठिनाई एवं दु:ख पाने के लिये वना है ?

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"हे अर्जुन, संसार में सर्वोच्च लोक (ब्रह्मलोक) सहित सभी लोक वारम्वार जन्म-मृत्यु से होने वाले क्लेश से पूर्ण हैं। परन्तु हे कुन्ती पुत्र, जो मेरे धाम को प्राप्त हो जाता है उसका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता।" (गीता ८.१६)

दुःखालयंऽशाश्वतम् : न केवल यह संसार दुखों का घर है वरन् यह अस्थायी भी है। कोई भी इस पर सहमत नहीं हो सकता कि त्रितापों के कष्टों को केवल सहन करते हुये इस संसार में वास करते रहा जाय। हमारी इच्छा करने पर भी हमें इसकी आज्ञा नहीं दी जायेगी। मनुष्य को यहाँ वास करते समय न केवल दण्ड मिलता है अपितु अन्त में धक्का मारकर निकाल भी दिया जाता है। वह भले ही बंक में प्रचुर धन एकत्रित कर ले, बहुमूल्य घर, पत्नी, सन्तान इत्यादि सुविधाओं का संग्रह कर ले तथा सोच ले, "मैं तो अत्यन्त शान्तिपूर्वक रह रहा हूँ।" परन्तु किसी भी दिन उसे कहा जा सकता है, "कृपया निकलिये, समय हो गया है।"

"क्यों ?" वह पूछेगा। "यह मेरा खरीदा हुआ घर है। मेरे पास धन, नौकरी तथा अनेक उत्तरदायित्व हैं। मैं क्यों बाहर निकलूँ ?"

"बाहर निकलो। बातें मत बनाओ। चलो निकलो।"

उसी दिन मनुष्य को भगवान् दिखाई पड़ते हैं। "अहो, मैंने भगवान् पर विश्वास नहीं किया।" वह भले सोच सकता है। "परन्तु अब भगवान् प्रत्येक वस्तु नष्ट किये दे रहे हैं।" इस प्रकार कहा जाता है कि असुर लोग श्रीकृष्ण को मृत्यु के रूप में पहचानते हैं क्योंकि मृत्यु के समय भगवान् उनसे प्रत्येक वस्तु ले लेते हैं।

हम भगवान् को मृत्यु के रूप में देखना ही क्यों चाहते हैं ? जब हिरण्यकशिपु असुर ने श्रीकृष्ण को देखा तो उसे वे साक्षात् मृत्यु दिखलाई दिये वहीं भक्त प्रह्लाद ने अपने प्रिय भगवान् के स्वरूप के दर्शन किये। जो भगवान् को चुनौती देते हैं वे उनका वीभत्स रूप देखते हैं और जो उनके भक्त हैं वे भगवान् के सच्चिदानन्द स्वरूप का दर्शन करते हैं। किसी भी प्रकार, अन्त में सभी भगवान् को देखा करते हैं।

एक सत्यनिष्ठ (ईमानदार) व्यक्ति सदा और सर्वत्र ही श्रीकृष्ण के दर्शन कर सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, "मुझे समझने का प्रयास करो। सर्वत्र मेरा दर्शन करने का प्रयत्न करो।" इस विधि को

और भी अधिक व्यवहारिक बनाने के लिये भगवान् कहते हैं : **रसो-ऽहमप्सु कौन्तेय** : "मैं जल का रस (स्वाद) हूँ।" (गीता ७.८) जब हम प्यासे रहते हैं और हमें एक ग्लास जल की आवश्यकता होती है तब हम केवल उसको पीकर ही सुखी हो सकते हैं। सुख का कारण यह ज्ञान है कि जल की प्यास बुझाने की शक्ति श्रीकृष्ण हैं। उसी प्रकार सूर्योदय अथवा चन्द्रमा के प्रकाश में हम श्रीकृष्ण के दर्शन कर सकते हैं क्योंकि वे कहते हैं, "**प्रभास्मि शशिसूर्ययोः** — "मैं चन्द्रमा तथा सूर्य में प्रकाश हूँ।" और उन्नत अवस्था में हम प्रत्येक के प्राण के रूप में श्रीकृष्ण का दर्शन कर सकते हैं जैसा कि वे श्रीमद्भगवद्-गीता (७.९) में दर्शाते हैं :

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥

"मैं पृथ्वी में मौलिक गन्ध हूँ और मैं ही अग्नि में तेज हूँ। सब प्राणियों में उनका जीवन एवं तपस्वियों में तप हूँ।"

एक बार हमें जब यह ज्ञान हो जाता है कि ये सम्पूर्ण वस्तुयें अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये श्रीकृष्ण पर निर्भर हैं, हमारी दृष्टि से तब श्रीकृष्ण के ओझल होने की सम्भावना ही नहीं रहती। श्रीमद्भगवद्गीता (७.६,७) में भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण वस्तुयें आरम्भ, अन्त तथा मध्य अवस्थाओं में उनमें ही वास करती हैं :

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

"इस सम्पूर्ण सृष्टि में जो भी प्राकृत एवं अप्राकृत है, मैं ही उनका उत्पत्ति और प्रलय रूप हूँ। हे धनञ्जय, मुझसे श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नहीं है। सूत्र की मणियों के सदृश सभी कुछ मेरे ऊपर आश्रित है।"

श्रीकृष्ण के दर्शन अत्यन्त सुलभ हैं परन्तु केवल उनके भक्त मात्र ही भगवान् के दर्शन कर सकते हैं। जो द्वेषी, मूर्ख या बुद्धिहीन हैं उनके लिये श्रीकृष्ण स्वयं को माया के आवरण के द्वारा अदृश्य बना लेते हैं :

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

"मैं मूढ़ और अल्पज्ञ मनुष्यों के सामने कभी प्रकट नहीं होता। उनके लिये मैं अपनी नित्य योगमाया में छिपा रहता हूँ। इस प्रकार मोहित हुआ जगत् मुझ अजन्मा - अविनाशी को तत्त्व से नहीं जानता।" (गीता ७.२५)।

यह नित्य योगमाया जो मूढ़ लोगों के सामने श्रीकृष्ण को छिपा लेती है, वही माया, प्रेम के द्वारा लुप्त हो जाती है। यह ब्रह्म-संहिता (५.३८) का निर्णय है :

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन।
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ॥

"जिन्होंने कृष्ण-प्रेम का विकास कर लिया है वे चौबीसों घण्टे अपने हृदय में श्री श्यामसुन्दर के दर्शन कर सकते हैं।"

जो इस प्रकार श्रीकृष्ण के दर्शन करते रहते हैं वे उत्सुक नहीं होते क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि मृत्यु के समय वे कहाँ जा रहे हैं। जिसने भी कृष्ण-भक्ति की इस भेंट को स्वीकार कर लिया है वह जानता है कि उसे दूसरा भौतिक शरीर ग्रहण करने इस संसार में पुनः नहीं आना पड़ेगा। परन्तु वह श्रीकृष्ण के समीप पहुँच जायेगा। श्रीकृष्ण के समीप तब तक पहुँचना सम्भव नहीं है जब तक कि हमें श्रीकृष्ण के सदृश शरीर अर्थात् सच्चिदानन्द विग्रह की प्राप्ति न हो जाय। अग्नि में प्रवेश करके नष्ट न होना तभी सम्भव है जब प्राणी स्वयं अग्निवत् हो जाय उसी प्रकार अप्राकृत शरीर के बिना वैकुण्ठ धाम में प्रवेश नहीं किया जा सकता। अप्राकृत शरीर में मनुष्य, [illegible] एवं

गोपबालकों के समान श्रीकृष्ण के साथ रास में नृत्य कर सकता है यह साधारण नृत्य नहीं परन्तु भगवान् के साथ शाश्वत नृत्य है। जिन्होंने विशुद्ध कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति कर ली है केवल वे ही इसमें सम्मिलित हो सकते हैं। अतएव, हमें इस कृष्ण-भक्ति के साधन को सस्ता न समझकर, स्वयं-भगवान् के द्वारा, पीड़ित मानवता को प्रदत्त अनुपम भेंट के रूप में ग्रहण करना चाहिये। इस विधि में केवल संलग्न होने के ही द्वारा हम अपने जीवन की समस्त चिन्ताओं एवं भय से—जिनमें मृत्यु का भय सर्वप्रमुख है—अत्यन्त सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।